आलोचना

त्रैमासिक

अंक 63

अक्टूबर-दिसम्बर 2020

मीडिया के राम / विनीत कुमार

प्रतिलोकवृत्त के रूप में स्त्रियाँ / चारु सिंह

राजकमल

आलोचना त्रैमासिक अक्टूबर-दिसम्बर 2020 अंक तिरेसठ

अंक तिरेसठ
अक्टूबर-दिसंबर 2020

यह अंक : ₹60
व्यक्तिगत सदस्यों के लिए
वार्षिक सदस्यता : ₹300

संस्थाओं के लिए
वार्षिक सदस्यता : ₹500

कृपया अपना शुल्क
राजकमल प्रकाशन प्रा. लि.
के नाम से मनीऑर्डर/ड्राफ्ट भिजवाएँ।

आलोचना में प्रकाशित रचनाओं के साथ राजकमल प्रकाशन प्रा.लि. या सम्पादकों की सहमति होना आवयक नहीं है।

प्रकाशन के लिए सामग्री दो पंक्ति छोड़कर (डबल स्पेस में) साफ़ टाइप की हुई होनी चाहिए और निम्न पते पर ही भेजी जानी चाहिए :

सम्पादक, आलोचना
1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज
नई दिल्ली-110 002
दूरभाष : 011-23274463, 23288769

सम्पादन-अवैतनिक

AALOCHANA
A Quarterly Journal in Hindi
Published by Rajkamal Prakashan (P) Ltd.
1-B, Netaji Subhash Marg, Daryaganj, New Delhi-110 002 (INDIA)
Phone : 011-23274463, 23288769 • Fax : 011-23278144
website : www.rajkamalprakashan.com • e-mail : info@rajkamalprakashan.com

Subscriptions
In other countries
US $ 21@£17 (via air mail)
US $ 12@£10 (via sea mail)

आलोचना
त्रैमासिक

राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110 002

प्रतिलोकवृत्त के रूप में स्त्रियाँ

चारु सिंह

“जैसा कि हमने देखा उन्नीसवीं सदी के हिंदी सार्वजनिक क्षेत्र में स्त्रियाँ ग़ैरमौजूद नहीं थीं। यूरोप और अमेरिका की तरह यहाँ भी वे एक प्रतिस्पर्धी लोकवृत्त के रूप में मौजूद थीं जिन्हें नैन्सी फ्रेज़र ने सबाल्टर्न पब्लिक का नाम दिया है। भले ही हिंदी लोकवृत्त में स्त्रियों की सक्रियता के इतिहास को ठीक ढंग से सुरक्षित न किया गया हो और उन्नीसवीं सदी के 'हिंदी नवजागरण' संबंधी तमाम अध्ययन दिखलाते हों कि उस वक़्त का साहित्यिक क्षेत्र पूरी तरह से पुरुषों से बना हुआ था, लेकिन वास्तव में हिंदी का लोकवृत्त कभी ऐसा एकरेखीय, एकांगी और संकीर्ण नहीं था।”

चारु सिंह दिल्ली विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग में शोधार्थी हैं। जेंडर, साहित्येतिहास और समसामयिक विषयों पर लिखती हैं।

संपर्क : charusingh.du@gmail.com

उन्नीसवीं सदी के हिंदी लोकवृत्त में 'स्त्री शिक्षा' कैसी हो, इसको लेकर हिंदी की दुनिया में तमाम बहसें हुईं। छोटे-बड़े सभी तरह के लेखक, सार्वजनिक जीवन में सक्रिय वर्चस्वशाली व्यक्ति, पत्रकार, कवि और सुधारक—सभी इसे लेकर अत्यधिक गम्भीर चर्चाओं में लगे हुए थे। स्त्री के भाग्य को लेकर चिन्तनशील ये प्रभावशाली व्यक्ति अध्ययन की सुविधा के लिए रूढ़िवादी-सुधारवादी आदि समूहों में रखकर देखे जा सकते हैं। इनमें से कुछ स्त्रियों को घर सँभालने और पति सेवा संबंधी शिक्षा तक सीमित रखने की बात करते थे, जिस श्रेणी में हरिश्चंद्र की बहुचर्चित *बालाबोधिनी* जैसी पत्रिकाओं और इसी दृष्टिकोण से लिखी जाने वाली *भाग्यवती, देवरानी जेठानी की कहानी* जैसी पुस्तकों को रखा जा सकता है। दूसरे समूह के सुधारक स्त्रियों को वेद तथा भाषा आदि भी पढ़ा दिए जाने के पक्षधर थे, जिनमें जालन्धर की आर्यसमाजी कन्या पाठशाला आदि को शामिल समझा जा सकता है। मुज़फ़्फ़रपुर के द्वारकाकुँवर ठाकुर जैसे तुलनात्मक रूप से आधुनिक व्यक्ति भी सार्वजनिक क्षेत्र की इन बहसों में देखे जा सकते हैं जो स्त्रियों के लिए पुरुषों के समान आधुनिक उच्च शिक्षा की वकालत कर रहे थे जिससे इन स्त्रियों के पति 'व्यभिचार' की राह न जाएँ।[1] ये सभी बहसें स्त्रियों के बारे में थीं लेकिन इनके अभिकर्ता पुरुष थे। क्या इसका आशय यह लिया जाए कि उन्नीसवीं सदी के हिंदी लोकवृत्त में स्त्रियों से जुड़े मसलों का निर्णय पूरी तरह पुरुषों के हाथ में था? क्या स्त्रियाँ अपनी शिक्षा तथा अपने जीवन से जुड़े दूसरे मसलों पर चल रही इन बहसों में कोई हस्तक्षेप नहीं कर रही थीं और पुरुष समाज द्वारा दिए जाने वाले निर्णय की प्रतीक्षा में थीं? इतिहास की रेखीय और सामान्य समझ इसका उत्तर 'हाँ' में प्रस्तावित करती है। इसके बावजूद अभिलेखागारों में उन्नीसवीं सदी के हिंदी जगत से जुड़े जो साक्ष्य मौजूद हैं, वे बतलाते हैं कि ऐसा था नहीं। उन्नीसवीं सदी के अभिलेखीय साक्ष्य दिखलाते हैं कि स्त्रियाँ अपने जीवन, सामाजिक हैसियत और शिक्षा-दीक्षा से जुड़े मसलों पर

न सिर्फ़ लगातार लिख रही थीं बल्कि अपनी समस्याओं के समाधान के लिए सार्वजनिक मंचों का इस्तेमाल करते हुए जनमत को अपने पक्ष में मोड़ने की कोशिश भी कर रही थीं। ये स्त्रियाँ हिंदी का प्रतिलोकवृत्त थीं।

उन्नीसवीं सदी के दौरान हिंदी क्षेत्र के सार्वजनिक मंचों से सक्रिय ये स्त्रियाँ आपस में एक संवाद तथा सहयोग की भावना के साथ जुड़ी हुई थीं। इन लेखिकाओं, संपादिकाओं, पाठिकाओं और सुधारक स्त्रियों ने स्त्री शिक्षा, विधवा-विवाह, सहवास क़ानून जैसे बहुत से मुद्दों पर हिंदी लोकवृत्त के वर्चस्वशाली विचारों का विरोध किया। यह विरोध कई बार किसी लेखिका के व्यक्तिगत लेखन के ज़रिए हो सकता था, कई बार पत्रिकाओं में तीखे ख़त लिखकर, किसी आलेख या टिप्पणी के प्रकाशन के ज़रिए और कई बार स्त्री-सभाओं आदि के ज़रिए कोई प्रस्ताव पारित करके; जैसा विरोध उन्नीसवीं सदी की महत्त्वपूर्ण लेखिका और आगरा-लाहौर की एक महत्त्वपूर्ण समाज सुधारक श्रीमती हरदेवी ने अपने घर पर स्त्रियों की सभा करके सहवास क़ानून लाने के पक्ष में उस वक़्त सरकार को अर्ज़ी देकर की थी, जब खुद उनके पति और आर्य समाज के प्रभावशाली कार्यकर्ता बैरिस्टर रौशनलाल और बाल गंगाधर तिलक सहित देश-भर के तमाम जाने-माने और रसूख़ वाले व्यक्ति इसका विरोध कर रहे थे।[2] सार्वजनिक क्षेत्र में सक्रिय सभी स्त्रियाँ विद्रोहिणी नहीं थीं और इनमें से तमाम स्त्रियाँ भी 'पातिव्रत' और 'स्त्री की अधीनता' जैसे उन्हीं पितृसत्तात्मक आदर्शों से सहमत थीं जिन्हें मुख्यधारा का हिंदी लेखन प्रस्तावित कर रहा था। इन सबमें 'स्त्री शिक्षा' एक ऐसा मसला था जहाँ हिंदी लोकवृत्त में सक्रिय ये स्त्रियाँ सबसे अधिक मुखर थीं और उनके बीच की वैचारिक असहमति सबसे कम थी। यही वह मुद्दा था जिस पर इन सभी स्त्रियों की चिन्ताएँ एक समान दिखती थीं। यह अलग बात है कि हमारे साहित्येतिहासकारों ने स्त्रियों के इस संघर्ष को लेकर अपने अध्ययन में वह जानकारी नहीं दी जिनका हिंदी का पाठक हक़दार था। ऐसा ही एक विवरण हम यहाँ दे रहे हैं। यह 'स्त्री शिक्षा' को लेकर चलने वाली इन तमाम अवधारणात्मक बहसों के बीच खुद स्त्रियों की ओर से किए जाने वाले हस्तक्षेप का एक नमूना है। यह हस्तक्षेप था—स्त्री शिक्षा को भारतेन्दु द्वारा प्रस्तावित 'पति सेवा' और 'शिशुपालन' के दायरे से बाहर खींच लाना और एक विधवा रही स्त्री के द्वारा दूसरी पराश्रित विधवाओं के लिए एक रोज़गारपरक विद्यालय का खोला जाना। 'नारी शिल्पालय' नाम का यह विद्यालय लाहौर में खोला गया था। सच्चिदानन्द सिन्हा ने अपनी पत्रिका 'कायस्थ समाचार' के अप्रैल, 1902 के अंक में स्त्रियों के लिए खोले गए इस तकनीकी विद्यालय 'नारी शिल्पालय' की सूचना देते हुए यह दिलचस्प विवरण लिखा था :

इन स्तम्भों में हम पहले भी किसी अवसर पर एक सुशिक्षित और अत्यन्त प्रतिभाशाली स्त्री के रूप में ख्यात श्रीमती हरदेवी रोशनलाल के उन उत्कृष्ट और अत्यधिक उपयोगी कार्यों की ओर ध्यान खींच चुके हैं, जो उन्होंने अपनी पत्रिका 'भारत भगिनी' के ज़रिए 'स्त्री शिक्षा' के लिए किया है, जो हर माह देवनागरी लिपि में प्रकाशित होती है। इस देश के उद्धार और स्त्री शिक्षा के उद्देश्यों के प्रति उनके महान समर्पण और सच्ची सहानुभूति के एक अगले उदाहरण के रूप में हमारे सामने अब लाहौर का "नारी शिल्पालय" (स्त्रियों का टेक्निकल स्कूल) उपस्थित है। यह शिल्पालय बसंत पंचमी के दिन शुरू किया गया और इस संस्था के नियम-क़ायदे, जिन्हें हम नीचे प्रकाशित कर रहे हैं, हमारे पाठकों को इस विद्यालय की उपयोगिता के बारे में कुछ जानकारी दे सकेंगे। यह नियम निम्नलिखित हैं—

(1) विद्यालय में स्त्रियों को पढ़ाया जाएगा।
  - (A) नागरी, गुरुमुखी और उर्दू लिखना तथा पढ़ना, साथ ही अंकगणित;
  - (B) हाथ तथा मशीन दोनों से सिलाई करना, हर तरह के वस्त्रों को हर शैली में मापना तथा काटना;
  - (C) लेस-वर्क, चाँदी के तारों से क़सीदाकारी करना और हर तरह के रिबन का काम;
  - (D) फुलकारी का काम, साटिन ब्रॉडक्लॉथ आदि रेशमी तथा सूती धागों से क़सीदाकारी;
  - (E) बुनाई, ग़लीचा बनाने का काम, ऊन से क़सीदाकारी और इस काम की सभी शाखाएँ।

(2) प्रवेश हिंदू तथा मुसलमान दोनों विद्यार्थियों के लिए समान रूप से खुला है।

(3) विद्यार्थियों से कोई भी ट्यूशन फ़ीस नहीं ली जाएगी, लेकिन लोकहितैषी और सम्पन्न महिलाओं द्वारा दिए गए दान और सब्स्क्रिप्शन को धन्यवादपूर्वक स्वीकार किया जाएगा।

(4) यह विद्यालय भले घर की उन स्त्रियों के लिए

है जो किसी दूसरे स्कूल में नहीं जा सकती हैं; पर्दे का सख़्ती से पालन होगा; किसी पुरुष को विद्यालय में आने की अनुमति नहीं है।

(5) विद्यालय का प्रबंधन पूरी तरह से स्त्रियों के हाथ में रहेगा।

(6) काम (शिल्पकार्य) के लिए सभी आवश्यक सामग्री विद्यालय के द्वारा दी जाएगी; विद्यार्थियों को उन्हें घर ले जाने की अनुमति नहीं होगी, न ही उन्हें अपने घर से कोई शिल्पकार्य विद्यालय लाकर करने की अनुमति दी जाएगी; जितनी देर तक वे विद्यालय प्रांगण में हैं, उन्हें खुद को उन्हीं कार्यों में लगाए रखना होगा जो उन्हें विद्यालय की तरफ़ से दिए जाएँ।

(7) यह विद्यालय ख़ासतौर पर बढ़िया आचरण वाली उन विधवाओं को शिक्षण और प्रशिक्षण देने के लिए समर्पित रहेगा जिनके पास जीविकोपार्जन का कोई ज़रिया नहीं है। जैसे ही हमारे मित्र इसकी अनुमति देते हैं, ऐसी विधवाओं को हर महीने वज़ीफ़ा भी दिया जाएगा।

(8) फ़िलहाल, यह विद्यालय 11 A.M. से खुलेगा और 3 P.M. पर बंद होगा।

उपरोक्त योजना को कार्यान्वित करते हुए 12 रुपए प्रतिमाह पर एक स्त्री शिक्षिका की नियुक्ति की गई है जिसे पढ़ने, लिखने तथा अंकगणित संबंधी निर्देशन देना है, एक अन्य (शिक्षिका) 15 रुपए प्रतिमाह पर सिलाई के लिए, 4 रुपए प्रतिमाह पर एक स्त्री सहायिका—छात्राओं को उनके घर से लाने-ले जाने हेतु, इसी तरह विद्यालय के कमरों और उपकरणों की सफ़ाई और झाड़-पोंछ के लिए; एक पुरुष चपरासी और चौकीदार को 7 रुपए प्रतिमाह पर विद्यालय से बाहर के काम करने के लिए।

हम इस शिल्पालय की ऑनरेरी सेक्रेटेरी श्रीमती रोशनलाल को शुभकामनाएँ देते हैं, जो अपने सुपरिचित जोश और ईमानदारी के साथ हर दिन विद्यालय के घंटों में इस विद्यालय की देखभाल करने और यहाँ अध्यापन का कार्य करने के लिए भी राज़ी हुई हैं—"समान रूप से हर यूरोपीय और भारतीय स्त्री पुरुष से सहानुभूति और सहायता" की अपील के साथ। और हमें इसमें कोई संदेह नहीं है कि इस अपील का जवाब उसी तरह दिल खोलकर दिया जाएगा, जिसकी यह हक़दार है।[7]

यह उस विद्यालय के खुलने की जानकारी है जिसे श्रीमती हरदेवी ने 1902 में लाहौर में बेरोज़गार विधवा स्त्रियों को ध्यान में रखकर शुरू किया था। उन्नीसवीं सदी का अंत होते-होते एक स्त्री द्वारा इस विद्यालय का खोला जाना दिखलाता है कि स्त्रियों के जीवन से जुड़े प्रश्नों, उनकी आर्थिक आत्मनिर्भरता या पति के समक्ष उनकी दोयम स्थिति-जैसे प्रश्नों पर सार्वजनिक क्षेत्र में सक्रिय वर्चस्वशाली पुरुष अपनी राय चाहे कितने ही आक्रामक तरीक़े से रख रहा हो, वह एकमात्र निर्णयकर्ता नहीं था। स्त्रियाँ पुरुषों द्वारा कही जा रही हर सही-ग़लत बात का सिर झुकाकर पालन नहीं कर रही थीं। स्त्रियों के जीवन को प्रभावित करने वाले विषयों पर स्त्रियों की ओर से होने वाले हस्तक्षेप को लगातार देखा जा सकता था।

'स्त्री शिक्षा' की विभिन्न अवधारणाओं पर मुद्रित सामग्री की छानबीन करते हुए देखा जा सकता है कि 'विधवा जीवन जीने की शिक्षा' और इस संबंध में स्त्रियों पर लादे गए तमाम नियम-क़ायदों के भीतर उन्हें दीक्षित करना 'स्त्री शिक्षा' संबंधी इन पुस्तकों का एक महत्त्वपूर्ण विषय हुआ करता था। इसमें विधवा स्त्रियों को (भले ही वे बाल विधवा हों) शास्त्रों द्वारा बताए गए विधवा जीवन के कठोर नियमों का पालन करने की शिक्षा दी जाती थी। इसके तहत एक वक़्त का फलाहार, मृत पति के चरणों का ध्यान, अपनी यौन इच्छाओं का दमन, घर के दूसरे सदस्यों से दूर रहकर बचा हुआ जीवन बिताने जैसे सुझाव शामिल थे।[8] यहाँ प्रश्न यह है कि क्या वह सलाह सभी स्त्रियों ने उसी तरह मान ली? कुछेक ऊँची कही जाने वाली जातियों को छोड़ दें तो शेष बहुसंख्यक समाज में न तो विधवा विवाह की कोई मनाही थी, न ही यह किताबें और इनमें सिखलाए गए नियमों का वहाँ कोई असर था। सामान्यत: उच्च जातियों की जिन विधवाओं को 'स्त्री शिक्षा' की ये किताबें लक्ष्य कर रही थीं, उन स्त्रियों की ओर से भी इसका प्रतिवाद सामने आया। श्रीमती हरदेवी का 'नारी शिल्पालय' या पंडिता रमाबाई का 'शारदा सदन' रूढ़िवादी समूह की ओर से रखी गई 'स्त्री शिक्षा' की कठोर पितृसत्तात्मक अवधारणा का एक ठोस प्रत्युत्तर था। भले ही व्यावसायिक शिल्पकार्यों पर केंद्रित यह विद्यालय 'उच्च शिक्षा' के उद्देश्यों की पूर्ति नहीं करते थे लेकिन यह स्त्री को परिवार के पुरुषों पर आश्रित गृहिणी या असहाय विधवा की भूमिका से मुक्त कराने में सक्षम थे। स्त्री की यह आर्थिक असहायता समाज में स्त्री की दोयम दर्जे की हैसियत तथा परिवार के

भीतर उसके शोषण की मुख्य वजह थी।

'स्त्री शिक्षा' के जिस रूप की वकालत रूढ़िवादी समूह ने हंटर कमीशन के सामने की थी, वहाँ यह माँग की गई थी कि स्कूल में सरकार द्वारा अंग्रेज शिक्षिकाओं की नियुक्ति की जाए जिससे इस देश की लड़कियों को वही शिक्षा दी जा सके जो अंग्रेज स्त्रियों को प्राप्त है[5] जिससे वे अंग्रेज स्त्रियों के समान ही 'कुशल गृहिणी' बन सकें और बच्चों का लालन-पालन आधुनिक मध्यवर्गीय ज़रूरतों के हिसाब से कर सकें। वे घर का हिसाब-किताब करने भर अंकगणित जानें और पति को चिट्ठी लिखने भर भाषा। थोड़ी-सी सिलाई-कढ़ाई भी उन्हें सिखलाई जाए जिससे वे घर पर ही बच्चों के मोज़े तथा टोपी बुन सकें और विक्टोरियन स्त्री की तरह मेज़पोश काढ़कर मध्यवर्गीय बैठकों को सजा सकें। उन्हें 'अनावश्यक विषय' जैसे—विज्ञान और इतिहास (*विद्यांकुर* और *इतिहासतिमिरनाशक*) न पढ़ाए जाएँ[6] क्योंकि इनका स्त्री शिक्षा के उद्देश्य से कोई लेना-देना नहीं है। न ही उन्हें *प्रेम सागर* जैसा शृंगारिक साहित्य पढ़ाया जाए।[7] हरदेवी और रमाबाई के यह विद्यालय स्त्रियों को उनकी मातृत्व और गृहिणी संबंधी भूमिकाओं से निकलने का अवसर दे रहे थे। यह विद्यालय उन्हें रोज़गार सिखला रहे थे और जीविकोपार्जन में सक्षम बनाना चाह रहे थे। यहाँ भी पाठ्यक्रम जालंधर कन्या विद्यालय की तरह सिलाई-कढ़ाई पर आधारित था[8] लेकिन यहाँ प्रस्तावित शिल्पकार्य की यह शिक्षा छोटी-मोटी घरेलू ज़रूरतों और सजावट तक सीमित नहीं थी बल्कि यहाँ ग़लीचा-क़ालीन से लेकर जरी के काम जैसे औद्योगिक शिल्पकार्य सिखलाए जा रहे थे, जिनकी विदेशी बाज़ार में काफ़ी क़ीमत थी और जिन व्यवसायों से जुड़कर स्त्रियाँ कुछ द्रव्य अर्जित कर सकती थीं। नारी शिल्पालय की पाठ्यचर्या की वह विशेषता जो इसे अपने समय की दूसरी स्त्री शिक्षा-संस्थाओं से अलग करती थी, वह थी—यहाँ के पाठ्यक्रम में गृहिणी धर्म, स्त्री धर्म और पातिव्रत आदि की शिक्षा देने वाले हिंदू शास्त्रों पर आधारित विषयों तथा पुस्तकों का न पढ़ाया जाना। इसी से जुड़ी दूसरी विशेषता इस संस्थान की यह थी कि यहाँ हिंदू तथा मुसलमान दोनों ही शिक्षार्थियों के पढ़ने की व्यवस्था थी और किसी भी तरह की धार्मिक शिक्षा या धर्म-आधारित स्त्री कर्तव्यों की शिक्षा यहाँ नहीं दी जाती थी। रमाबाई के शारदा सदन में भी एक समय ईसाई धर्म की शिक्षाएँ दी जाने लगीं लेकिन ब्रह्मसमाजी हरदेवी ने अपने संस्थान का चरित्र धर्मनिरपेक्ष ही रखा। उन्नीसवीं सदी में आर्यसमाज, ब्रह्मसमाज या ईसाई मिशनरी से जुड़े व्यक्ति के लिए यह एक कठिन बात रही होगी। प्रायः देखा तो यह गया है कि धार्मिक संस्थाओं से जुड़े व्यक्तियों ने तो विद्यालय खोले ही अपने मतों के प्रचार के लिए थे। ईसाई स्कूलों में ईसाई धर्म की शिक्षा दी जाती थी और आर्य समाजी स्कूलों में वैदिक धर्म की। ऐसे समय में एक स्त्री द्वारा एक धर्मनिरपेक्ष और रोज़गार केंद्रित शिक्षा संस्थान का खोला जाना अपने आप में विशिष्ट था।

यह ध्यान रखने की ज़रूरत है कि इन स्त्री सुधारकों द्वारा खोले गए विद्यालयों की यह 'रोज़गारपरक शिक्षा' भी पुरुषों को नौकरी के क्षेत्र में प्रतिस्पर्धा देने वाली नहीं थी और 'भले घर की स्त्रियाँ', 'परदा', 'नैतिक चरित्र' संबंधी आग्रह यहाँ भी स्त्रियों के लिए ज़रूरी ठहराए जा रहे थे। इतना होने पर भी यह विद्यालय स्त्रियों को आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर बनाने के अपने उद्देश्य के कारण विशिष्ट था। हरदेवी का यह विद्यालय स्त्री शिक्षा के सुधारवादी सिद्धांतों को कार्यान्वित कर रहा था। एक स्त्री द्वारा खोले गए इस विद्यालय का प्रबंधन, संचालन और अध्यापन सब कुछ स्त्रियों के हाथ में था। सार्वजनिक मंच से विद्यालय ने चंदा देने की जो अपील की, वह भी केवल महिलाओं से की गई थी। इसका वास्तविक असर क्या रहा होगा, इस विषय में आँकड़े उपलब्ध नहीं हैं; लेकिन इतना तो कहा ही जा सकता है कि रूढ़िवादी लेखकों के द्वारा 'स्त्री शिक्षा' की किताबें लिखकर स्त्रियों को उनकी दोयम हैसियत स्वीकार करने और पितृसत्ता द्वारा बताए गए 'नारीधर्म' का पालन करने की नसीहतों का यह एक ठोस प्रत्युत्तर था। निस्संदेह, सरकार द्वारा खोले गए समान पाठ्यचर्या वाले विद्यालय और उच्च शिक्षा संस्थान में जाना स्त्रियों के लिए नारी शिल्पालय में जाने से बेहतर विकल्प था। लेकिन हरदेवी ने भी तो यह विद्यालय केवल उन्हीं स्त्रियों के लिए खोला था 'जो किसी दूसरे स्कूल में नहीं जा सकती थीं।'

उन्नीसवीं सदी के 'हिंदी नवजागरण' में 'स्त्री शिक्षा' को लेकर चली बहसों में स्त्रियों की ओर से आने वाला पक्ष क्या था और खुद स्त्रियों ने इस दिशा में क्या प्रयास किए—उन्हें संज्ञान में लिए बिना न तो भारतेन्दु मंडल के 'स्त्री शिक्षा' संबंधी विचारों को ठीक से समझा जा सकता है, न ही औपनिवेशिक शिक्षा तंत्र में स्त्रियों की शिक्षा संबंधी नीतियों पर कोई राय बनायी जा सकती है। हरदेवी

का 'नारी शिल्पालय' उन्नीसवीं सदी के लोकवृत्त में 'स्त्री शिक्षा' का एक महत्त्वपूर्ण मॉडल था। ध्यान देने की बात यह है कि यह विद्यालय 'स्त्री शिक्षा' का कोई 'आदर्श' क़ायम करने की बात नहीं कर रहा था। हरदेवी की पत्रिका *भारत-भगिनी* में स्त्रियों की उच्च शिक्षा को लेकर हरदेवी द्वारा चलाई गई मुहिम तथा उनका खुद विदेश जाकर उच्च शिक्षा प्राप्त करना—दोनों यह बताने के लिए काफ़ी हैं कि वे स्त्रियों के लिए केवल भाषा और शिल्पकार्य की शिक्षा को ही पर्याप्त नहीं समझती थीं। एक संपादिका के रूप में हरदेवी हमेशा ही स्त्रियों का पुरुषों के समान नौकरी में जाने का समर्थन करती रही थीं।[9] स्त्रियों की नौकरी के प्रश्न पर हरदेवी ने अपनी पत्रिका में लिखा :

> *अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि यह उच्च शिक्षा प्राप्त की हुई स्त्रियाँ क्या नौकरियाँ करेंगी और अपने पति को कमाकर ,खिलाएँगी? हम पूछते हैं कि जितने सब पुरुष पढ़ते हैं क्या यह सब नौकरी ही करेंगे? इसका उत्तर यह है कि जिन को जरूरत है वह करते हैं।*[10]

ऐसे में हरदेवी नौकरी को लेकर स्त्री-पुरुष के बीच सम्भावित किसी प्रतिस्पर्धा की आशंका से डर रही हों, यह भी नहीं कहा जा सकता। दरअसल हरदेवी का नारी शिल्पालय स्त्रियों को ज्ञान की परंपरा से जोड़ने के लिए नहीं बनाया गया था, बल्कि उन्हें अपमानजनक जीवन-परिस्थितियों से निकलने योग्य और आत्मनिर्भर बनाने का उद्देश्य यहाँ काम कर रहा था। नारी शिल्पालय के नियमों की घोषणा में ही साफ़ कर दिया गया था कि यह विद्यालय उन स्त्रियों के लिए है जो इसके अलावा किसी और विद्यालय में शिक्षा के लिए नहीं जा सकतीं। यह स्त्रियाँ ख़ासकर विधवा स्त्रियाँ थीं जिन्हें उनके परिवार के पुरुष सदस्य शायद ही आत्मनिर्भर बनने देना पसंद करते रहे होंगे। विधवा-जीवन में पुरुषों के सामने न जाने और पर्दा करने के सामाजिक नियम भी मुश्किलें पैदा करते होंगे। सम्भवतः इसीलिए इस सूचना में मोटे अक्षरों में बताया गया है कि इस विद्यालय में परदे का कड़ाई से पालन होता है। साथ ही, जोर देकर कहा गया है कि यह विद्यालय ख़ासकर विधवाओं को रोजगार के कार्य सिखाकर जीविकोपार्जन में सक्षम बनाने के उद्देश्य से शुरू किया गया है। इसके लिए उनसे (उनके परिवार के पुरुषों से) कोई फ़ीस नहीं ली जाएगी बल्कि पढ़ने आने वाली विधवाओं को वज़ीफ़ा भी दिया जाएगा।

उन्नीसवीं सदी के साहित्य में विधवाओं को लेकर चली बहसों के केंद्र में आर्थिक हित काम कर रहे थे। विधवाएँ पुनर्विवाह करेंगी तो सम्पत्ति का बँटवारा हो सकता है, परिवार में बेगार श्रम करने वाले सदस्य की कमी हो सकती है—इत्यादि प्रश्न ही दरअसल वे वास्तविक हित थे जिन्हें ध्यान में रखकर 'विधवा कर्तव्यों' की शास्त्र-आधारित व्याख्याएँ, नए सिरे से की जाने लगी थीं और शुद्ध, यौनाकांक्षा से रहित और संतनुमा हिंदू विधवा का आदर्श हिंदू स्त्री की आधुनिक परिकल्पना के केंद्र में लाया जाने लगा था। वे विधवाएँ जिनके सामने कोई पति मौजूद नहीं था जिसके चरणों की सेवा करते हुए वे जीवन बिता सकें, उन्हें भी पातिव्रत और पति देवता (जो कि अनुपस्थित थे) के चरणों में ध्यान धरने के नियमों का पालन करने संबंधी निर्देश दिए जा रहे थे। कई बार भारतेन्दु, बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' या राधाचरण गोस्वामी जैसे लेखकों ने विधवा के विवाह का समर्थन भी किया था, लेकिन व्यवहार में यह विधवा-विवाह संबंधी नवीन क़ानून के बन जाने से और भी मुश्किल हो गया था। हिंदू रूढ़िवादी वर्ग सरकार से वह क़ानून पास कराने में सफल रहा था जहाँ विधवाओं को पुनर्विवाह के बाद उनके मृत पति की सम्पत्ति में कोई अधिकार नहीं रह जाता था।

हरदेवी के पिता की सम्पन्नता और उनकी अपनी शिक्षा ने उन्हें वह ताक़त दी थी जिससे वह पुनर्विवाह कर सकी थीं। इस विद्यालय के ज़रिए इसी ताक़त को वह अपने देश की उन विधवा बहनों से साझा करना चाहती थीं जिनके लिए इसमें वज़ीफ़े की व्यवस्था की गई थी और बिना फ़ीस दिए इस विद्यालय में पढ़ने की अनुमति दी गई थी। स्त्रियाँ अपनी बहनों के लिए इस तरह के हस्तक्षेप भी कर रही थीं, इस जानकारी से हिंदी की इतिहास-पुस्तकें हमें अनजान रखती हैं। यहाँ तस्वीर कुछ ऐसी खींची जाती है कि मालूम होता है, स्त्रियाँ स्कूलों में 'मातृत्व' और 'पातिव्रत' की शिक्षा पाकर ही खुद को कृतार्थ समझ रही थीं। बहुत से आलोचक तो यहाँ तक दिखलाते हैं कि स्त्रियाँ खुद ही समानता नहीं चाह रही थीं और अपनी पितृसत्तात्मक अधीनता की समर्थक थीं।[11] आलोचकों-इतिहासकारों द्वारा हिंदी की रूढ़िवादी धारा के लेखकों को ही स्त्री-अधिकारों का संघर्षकर्ता भी बतला दिया जाता है।[12] इसके अलावा जो स्त्रियाँ उन्नीसवीं सदी में पितृसत्ता का विरोध कर रही थीं, उनके प्रयासों की गम्भीरता को लेकर भी हिंदी के बहुत से आलोचक अगर-मगर करते

नज़र आते हैं। वीरभारत तलवार और धर्मवीर द्वारा जब *हिंदी नवजागरण* के लेखकों की तुलना 'सीमन्तनी उपदेश' से करते हुए इनकी प्रशंसा की गई, उस वक़्त स्त्री-शिक्षा की पुस्तकों पर एक लेख के ज़रिए आलोचकों की तरफ़ से यह तर्क आया कि *सीमन्तनी उपदेश* की लेखिका ने अपना नाम नहीं बताया और कोई भी स्त्री अपना नाम बताते हुए पितृसत्ता के विरोध का साहस नहीं कर सकती थी :

> *स्त्री को उसके दोयम दर्जे का अहसास सबसे पहले घर के भीतर ही कराया जाता है और घर में ही उसके बौद्धिक और मानसिक व्यक्तित्व का निर्माण होता है। आचरण-पुस्तकों के लिए इसी घरेलू परिवेश का चुनाव किया गया जो स्त्रियों के लिए सुपरिचित, यथार्थ और प्रामाणिक परिवेश था। इनमें इक्का-दुक्का स्त्री-रचनाकारों के नाम भी दीख पड़ते हैं—जिन्हें पितृसत्तात्मकता के मानसिक अनुकूलन और शिक्षित हो रही स्त्री के प्रारंभिक साक्ष्यों के तौर पर पढ़ा जाना चाहिए। ये स्त्रियाँ अपनी ही अधीनता की पक्षधर दिखाई देती हैं क्योंकि परिवार और समाज की 'सेंसरशिप' से टकराने का साहस उनमें नहीं हैं। वे लिखकर अपने होने की तस्दीक करती हैं और जहाँ भी व्यवस्था के विपक्ष में लिखती हैं, वहाँ वे अपनी सही पहचान को छुपा ले जाती हैं। प्रमाण के तौर पर 1882 में छपी* सीमंतनी उपदेश *को देखा जा सकता है, जिसमें लेखिका के नाम की जगह एक 'अज्ञात हिंदू औरत' लिखा गया है। व्यवस्था के विरोध में बोलने का खतरा सीधे-सीधे ये स्त्रियाँ नहीं उठातीं और जो बोलती हैं वे पंडिता रमाबाई सरीखी स्त्रियाँ हैं, जो हिंदू धर्म को त्याग चुकी हैं और भारतीय स्त्रियों की स्थिति में सुधार के लिए अंतर्राष्ट्रीय मंचों पर अपनी बात रखती हैं।*[13]

स्त्री की पक्षधरता रखने वाले आलोचकों द्वारा भी इस तरह की ग़लतियाँ हो जाने की कुछ आधारभूत वजहें रही हैं। प्रथम कारण सभी स्त्रियों के शोषित और सभी पुरुषों के शोषक होने संबंधी किसी सार्वभौमिक सत्य में उनकी आस्था है। इस मान्यता के अनुसार सभी स्त्रियाँ चाहे वे किसी जाति, वर्ग या सामाजिक हैसियत की हों—वे पुरुष जाति के द्वारा शोषित होती हैं। भले ही पुरुषों में भी वर्ग और जाति के तमाम विभाजन मौजूद हों। इस 'सार्वभौमिक सत्य' के साथ वह पूर्वग्रह भी जुड़ा हुआ है जहाँ स्त्रियाँ इतिहास के उस लम्बे कालक्रम में निरपवाद रूप से अशिक्षित रही हैं और उन्नीसवीं सदी की स्त्रियों का लेखन "शिक्षित हो रही स्त्री के प्रारंभिक साक्ष्यों के तौर पर पढ़ा जाना चाहिए।" दूसरा कारण किसी टेक्स्ट के सतही पाठ से जुड़ा हुआ है, जहाँ किसी कहानी या उपन्यास में चित्रित परिवेश को ही "सुपरिचित, यथार्थ और प्रामाणिक परिवेश" मान लिया जाता है। ऐसे में यह भूलकर कि स्त्री के लिए पितृसत्तात्मक आचरण पुस्तकें लिखने वाले लेखकों की लैंगिक और वर्ग-आधारित राजनीति क्या थी, उसे औपनिवेशिक भारत के देश, काल, परिस्थिति का प्रामाणिक चित्रण मान लेना भ्रामक है। बात को स्पष्ट करने के लिए हरदेवी के उपन्यास *हुक्मदेवी* का उदाहरण लिया जा सकता है। हरदेवी के इस उपन्यास की विधवा नायिका न तो पुनर्विवाह करती है, न ही घर से बाहर जाकर किसी व्यवसाय को करना पसंद करती है। कहानी का अंत नायिका के नौकरी छोड़कर घर के भीतर पर्दे वाले एकाकी जीवन को अपनाने के रूप में होता है। अब इस कहानी के आधार पर न तो उस समय के विधवा जीवन के बारे में किसी प्रामाणिक परिवेश की जानकारी मिल सकती है, न ही लेखिका का विधवा-विवाह या स्त्रियों के रोज़गार जैसे मुद्दों पर क्या स्टैंड था, उसके बारे में इस उपन्यास के ज़रिए कोई सही राय बनाई जा सकती है। यह उपन्यास एक विशेष राजनीति के तहत लिखा गया था, जिसका उद्देश्य समाज में स्त्री-शिक्षा के पक्ष में माहौल तैयार करना था। हरदेवी के जीवन और उनके लेखन पर ध्यान न देकर यदि कोई आलोचक निष्कर्ष देना चाहे तो वह कह सकता है कि हरदेवी जो कि एक स्त्री थीं उनमें भी "परिवार या समाज की सेंसरशिप से टकराने का साहस नहीं था" और इसलिए उनकी विधवा नायिका ने पुनर्विवाह नहीं किया। पर क्या ऐसा था? हरदेवी के उपलब्ध लेखन को एक साथ देखने पर मालूम होता है कि उन्होंने विधवा-विवाह का समर्थन भी किया और विवाह संस्था की अनिवार्यता पर सवाल भी उठाए। वे स्त्रियों के सामने पुनर्विवाह का विकल्प भी रख रही थीं और आजीवन निस्संतान रहने और विवाह न करने का भी।

व्यवस्था के विपक्ष में लिखने के लिए यह स्त्रियाँ "अपनी सही पहचान को छुपा ले जाती थीं" यह तर्क भी प्रामाणिक नहीं है। *भारत-भगिनी* अपने समय में लाहौर का एक पढ़ा जाने वाला अख़बार था, भले ही हिंदी साहित्य के इतिहास में इसे जगह न दी गई हो। हरदेवी दो दशक तक यह अख़बार निकालकर पितृसत्ता का विरोध करती रहीं। अंतर्राष्ट्रीय मंचों पर भी वे पंडिता रमाबाई से कुछ

ही कम जानी जाती थीं।[14] इसकी एक बड़ी वजह उनका रमाबाई की तरह ईसाई प्रचारिका न होना था। रमाबाई ने खुद अपनी प्रसिद्ध पुस्तक द *हाई कास्ट हिंदू वुमन* में अपने तर्कों की पुष्टि के लिए हरदेवी की किताब से दो लम्बे-लम्बे उद्धरण पेश किए। इससे भी हरदेवी की बातों का वजन समझ में आ जाना चाहिए। उन्होंने उस वक़्त समुद्र यात्रा की थी जब पुरुष भी इसके लिए जात-बाहर कर दिए जाते थे—ठीक रमाबाई की तरह, लेकिन हिंदू रहते हुए। उस पर भी 'उच्च जाति' की विधवा रहते हुए। उस वक़्त जब विधवा के पुनर्विवाह का निर्णय लेने वाले पिताओं को क्रांतिकारी कहा जाता था, हरदेवी ने अपने पुनर्विवाह का निर्णय खुद लिया। पंद्रह और सोलह वर्ष की अवस्था में लिखी गई पुस्तकों में भले ही हरदेवी ने संकोचवश अपना नाम नहीं दिया था लेकिन यह झिझक आने वाले तीन-चार वर्षों में ही मिट गई। पर्दा छोड़कर देश-दुनिया घूमने वाली हरदेवी के लिए यह लिखना कि "व्यवस्था के विरोध में बोलने का खतरा सीधे-सीधे ये स्त्रियाँ नहीं उठातीं" अन्याय होगा। उन्होंने *स्त्रियों पर सामाजिक अन्याय* पुस्तिका में पुरुषों को ठीक *सीमन्तनी उपदेश* की ही भाषा में फटकार लगाई। वहाँ उन्होंने अपना नाम नहीं छिपाया। अगर उस वक़्त की किताबों को ज़रा इत्मीनान से देखा जाए तो उन्नीसवीं सदी में यह एक चलन था। भारत ही नहीं यूरोप में भी 'भद्रवर्ग' की कई स्त्रियाँ किताबों पर अपना नाम देने से हिचकती थीं। उस पर भी पंद्रह-सोलह साल की एक विधवा युवती द्वारा यौन विषयों पर इतनी बेलाग शैली में की गई बातचीत को पितृसत्तात्मक हिंदू समाज में पारिवारिक मान-मर्यादा के लिहाज़ से भी अपमानजनक समझा जाता होगा, कहने की ज़रूरत नहीं है। हरदेवी की स्थिति तो और भी संवेदनशील थी। वह एक 'रायबहादुर' की उपाधिप्राप्त व्यक्ति की बेटी थीं। ऐसे में उन पर पारिवारिक दबाव की कल्पना की जा सकती है। फिर सोलह साल की *सीमन्तनी उपदेश* की लेखिका हरदेवी ने उस वक़्त यह किताब लिखी जब अच्छे से अच्छे अख़बारों के कुल पाठकों की संख्या चार सौ से पाँच सौ तक हुआ करती थी। ऐसे में यह कल्पना करना कि लोग नहीं जानते होंगे कि यह किताब किसने लिखी और कौन युवती उन्हें मुफ़्त में बँटवा रही है, ठीक नहीं है।

दरअसल यह निष्कर्ष जो स्त्री के लिए लिखी जा रही "आचरण पुस्तकों" में दिए जा रहे पातिव्रत, परदा और गृहिणी धर्म संबंधी उपदेशों को ही उस युग की स्त्री का वास्तविक जीवन मान लेने से उपजे हैं, उस युग की सही तस्वीर पेश नहीं करते। इन आचरण पुस्तकों को पढ़ते वक़्त यह ध्यान रखने की ज़रूरत है कि उनमें उन्नीसवीं सदी की स्त्री को जो सिखाया जा रहा था, वही उसका यथार्थ नहीं था बल्कि कई बार तो यथार्थ ठीक उसके उलट था। यह "आचरण पुस्तकें" तो लिखी ही इसलिए जा रही थीं क्योंकि स्त्रियाँ उन नियमों का पालन नहीं करती थीं जो रूढ़िवादी पुरुष उन्हें सिखाना चाहते थे। अगर वे ऐसा कर ही रही होतीं तो इनके लिखे जाने का औचित्य क्या था? हमें याद रखना चाहिए कि लड़कियों के लिए सरकार द्वारा जो स्कूल खोले गए थे, उन सरकारी स्कूलों में लड़के और लड़कियों के लिए "समान पाठ्यक्रम" की व्यवस्था थी। निश्चित रूप से इसने स्त्रियों के लिए नए अवसर पैदा किए होंगे, जिनका लाभ उस वक़्त की स्त्रियाँ उठाने लगी थीं। उससे भी अधिक स्त्रियाँ पिछले आधे दशक से जनाना मिशनरी द्वारा शिक्षित की गई थीं। यह सब बातें हंटर कमीशन के आँकड़े दिखलाते हैं।[15]

आचरण-पुस्तकों के रास्ते उन्नीसवीं सदी के "घरों का माहौल" और स्त्री की वास्तविक स्थिति का अनुमान लगा लेना एक आसान तरीक़ा है, लेकिन यह कितना कारगर है और इसकी विश्वसनीयता क्या है, इस पर ठहरकर विचार करने की ज़रूरत है। नारीवादी इतिहासकारों ने 'आचरण पुस्तकों' में दिए गए पितृसत्तात्मक उपदेशों को विक्टोरियन स्त्री की स्थिति का सूचक मान लेने की आलोचना-पद्धति पर गम्भीर सवाल उठाए हैं। शीला रोबोथोम, जर्डा लर्नर तथा बारबरा वेल्टर ने स्त्रियों को क्या सिखाया जा रहा था और स्त्रियाँ वास्तव में क्या कर रही थीं —इसमें अंतर समझने की ज़रूरत पर ज़ोर दिया है। उन्होंने इस बात पर ध्यान दिलाया है कि प्राय: उन्नीसवीं सदी की स्त्रियों के जीवन को उस वक़्त के साहित्य और दस्तावेज़ों के रास्ते देखने की प्रचलित पद्धति यह रही है कि साहित्य या बहसों में चित्रित स्त्री को ही 'वास्तविक स्त्री' मान लिया गया है। यह स्त्री मुख्यत: अशिक्षित और घरों में बंद रहने वाली "घरेलू स्त्री" है।[16] उस वक़्त के सार्वजनिक वृत्त में की गई बहसों के दौरान यूरोप और भारत दोनों जगह स्त्री को एक "घरेलू जीव" के रूप में देखा गया। प्रश्न यह है कि स्त्री को जैसे चित्रित किया जा रहा था, क्या वही उसका यथार्थ था? क्या वास्तव में स्त्रियाँ घरेलू दायरे में सिकुड़ी हुई थीं और एक कठोर रूप से पुरुष-केंद्रित सार्वजनिक क्षेत्र मौजूद

था जो निजी क्षेत्र से पूरी तरह अलग था? क्या 'घरेलू क्षेत्र' में क़ैद रहने के उपदेश को सभी स्त्रियों ने यथावत मान लिया था? लोकवृत्त को पुरुष-केंद्रित और एकांगी मानने तथा निजी और सार्वजनिक का विभाजन करते हुए स्त्रियों की गतिविधियों का क्षेत्र घर के भीतर तक सीमित रखने की इतिहास-दृष्टि पर नैन्सी फ्रेज़र, सायला बेन हबीब आदि विद्वानों ने सवाल उठाए हैं।[17] इन विद्वानों ने हैबरमास की आलोचना करते हुए दिखलाया कि सार्वजनिक क्षेत्र में स्त्रियाँ और दूसरे समूह हमेशा ही एक प्रतिलोकवृत्त के रूप में मौजूद रहा करते हैं।

बारबरा वेल्टर अपने लेख 'द कल्ट ऑफ ट्रू वुमेनहुड' में स्त्री के सामाजिक जीवन को इन उपदेश-पुस्तिकाओं और लोकप्रिय साहित्य से सीधे घटाकर देखने की आलोचना करती हैं। अंग्रेजी की यह उपदेश-पुस्तिकाएँ और पत्रिकाएँ जो 'जैक्सनियन युग' में स्त्रियों को 'सही राह' पर लाने के लिए तैयार की जाती थीं, उनसे केवल इस बात का पता चलता है कि समाज का वर्चस्वशाली पुरुष वर्ग स्त्रियों से क्या अपेक्षाएँ रखता था। इन उपदेश-पुस्तिकाओं से इस बात का पता नहीं चलता कि स्त्रियाँ वास्तव में वैसा ही जीवन जी रही थीं जैसा कि ये उपदेश-पुस्तिकाएँ उन्हें सिखलाती थीं।[18]

जर्डा लर्नर लिखती हैं कि "बहुत से इतिहासकारों ने, जिनमें नारीवादी इतिहासकार भी शामिल हैं—इनसे (उपदेश-पुस्तिकाओं आदि से) यह नतीजा निकाल लिया है कि स्त्री संबंधी ये विक्टोरियन आदर्श समाज में सर्वव्यापी थे और यह (उपदेश-पुस्तिकाएँ) समाज के यथार्थ को दिखलाती हैं। (जबकि) अधिक गहरा विश्लेषण दिखलाता है कि स्त्री के घरेलूपन को लेकर यह चिन्ता दरअसल समाज में चल रहे एक विपरीत ट्रेंड के प्रति जनसंचार माध्यमों की एक प्रतिक्रिया थी। निम्नवर्गीय स्त्रियाँ कारख़ानों में जा रही थीं, मध्यवर्गीय स्त्रियाँ अपनी नियमित भूमिकाओं से असंतुष्ट दिख रही थीं और एक संस्था के रूप में परिवार एक उथल-पुथल और संकट को महसूस कर रहा था।[19] ऐसी परिस्थितियों में यूरोप में स्त्री की भूमिकाओं का आदर्शीकरण किया जाने लगा जिसमें उसकी जवाबदेही परिवार के प्रति होनी थी न कि अपने प्रति।[20] लर्नर लिखती हैं :

> *आदर्शीकरण एक बहुधा इस्तेमाल होने वाली रक्षात्मक विचारधारा है जो कि (समाज के) भीतरी तनाव को अभिव्यक्त करती है। इस आदर्शीकरण को स्त्री की बदलती स्थिति के अध्ययन के उपकरण के रूप में इस्तेमाल करते वक़्त इसका सामाजिक संरचना, आर्थिक परिस्थितियों, संस्थागत परिवर्तनों और लोकप्रिय नैतिकताओं से संबंधित एक सावधानीपूर्ण अध्ययन पर टिका होना ज़रूरी है। इस सावधानीपूर्ण अध्ययन के रास्ते ही स्त्री तथा उसकी लैंगिक भूमिकाओं के सैद्धांतिकरण के प्रति समाज के बदले हुए रवैए का, बदल रही नैतिकताओं (Value systems) का, पितृसत्तात्मक समाज के भीतरी तनावों का—सही ढंग से विश्लेषण हो सकेगा।*[21]

उन्नीसवीं सदी के हिंदी लोकवृत्त के संदर्भ में इस सैद्धांतिक आधार-भूमि से देखने पर ज्ञात होता है कि साहित्यिक-सार्वजनिक विमर्शों के ज़रिए दिखलाई जा रही और प्रकारान्तर से रची जा रही "आदर्श स्त्री" और उन्नीसवीं सदी में मौजूद वास्तविक स्त्री के बीच एक गम्भीर अंतर मौजूद था। हिंदी सार्वजनिक क्षेत्र में लगातार ही सार्वजनिक विमर्शों और साहित्यिक कृतियों के ज़रिए एक 'कल्पित हिंदू स्त्री' का छवि-निर्माण इस दौर में किया गया था।[22] 'वास्तविक' और 'आदर्श' के बीच के इस अंतर का निर्माण हिंदी की दुनिया में ख़ासतौर पर चर्चित "स्त्री शिक्षा" संबंधी पाठ्य-सामग्री कर रही थी जिसमें हिंदी के शीर्षस्थ लेखकों का लेखन भी शामिल था और ख़ास "स्त्री शिक्षा" को ध्यान में रखकर लिखी जा रही पत्रिकाएँ और पुस्तकें भी।[23]

दरअसल श्रद्धाराम फिल्लौरी की रची हुई *भाग्यवती* या भारतेन्दु की *नीलदेवी* नहीं, बल्कि समाज-सुधारक श्रीमती हरदेवी, सार्वजनिक कवि समाजों की लेखिका और एक राजपरिवार की दासी चंद्रकला और दलित शिक्षिका शशि, उस युग की स्त्रियों की वास्तविक प्रतिनिधि थीं। इनके जीवन का अध्ययन ही वास्तव में उन्नीसवीं सदी की स्त्री के जीवन के बारे में सही जानकारी दे सकता है। स्त्रियों को *प्रेमसागर* के श्रृंगारिक प्रसंगों से दूर रखने की भारतेन्दु हरिश्चंद्र की सलाह उन्नीसवीं सदी में स्त्री-यौनिकता को लेकर समाज की वास्तविक सोच का प्रतिनिधित्व नहीं करती, बल्कि उस युग के कवि समाज का बहुचर्चित चंद्रकला और द्विज बलदेव का प्रेम-प्रसंग उन्नीसवीं सदी के समाज में स्त्री-यौनिकता के स्वीकार का असल उदाहरण पेश करता है। सीतापुर के कवि द्विज बलदेव और बूँदी की चंद्रकला एक दूसरे की कविताओं पर मुग्ध हो गए थे। उनका प्रेम-प्रसंग अपने दौर में काफ़ी चर्चित था और समाज में उसकी सहज स्वीकृति—स्त्री की यौनिकता के प्रति उन्नीसवीं सदी के हिंदी लोकवृत्त के नज़रिए को समझने के लिहाज से काफ़ी

महत्त्वपूर्ण है। जहाँ इस विवाहेतर प्रेम को लेकर किसी तरह की द्विविधा का भाव नहीं है और न ही चंद्रकला का सम्मान इससे कम होता है।

चंद्रकला ने जब बलदेव अवस्थी की कविताएँ पढ़ीं तो वह उनसे इतनी प्रभावित हुईं कि उसने एक पत्र लिखकर उनसे बूँदी आने का आग्रह किया :

दीन दयाल दया कै मिलो,
दरसे बिनु बीतत हैं समय सोचन।
सुद्ध सतोगुण ही के सने ते,
विशंकित सूल सनेह सकोचन।
तोरि दियो तरु धीर-कगार के,
ह्वै सरिता मनो बारि बिमोचन।
चंद्रकला के बने बलदेव जी,
बावरे से महा लालची-लोचन॥[24]

निर्मल जी बताते हैं कि बलदेव तो वहाँ नहीं गए, लेकिन अन्य ग्रंथों में बार-बार चंद्रकला के सीतापुर जाने का उल्लेख है। चंद्रकला जिसने अपने श्रृंगारिक पदों और काव्यपूर्तियों के ज़रिए हिंदी के कवि समाजों में अपनी धाक जमा रखी थी और जिन्होंने परंपरागत काव्य-प्रतियोगिताओं में अपने युग के बड़े-बड़े कवियों को पछाड़ कर ख़िताब जीते थे; वे द्विज बलदेव की लेखनी पर मुग्ध होकर अपने से क़रीब छब्बीस वर्ष बड़े द्विज बलदेव से मिलने सीतापुर के बिस्वां जाने लगीं। बलदेव अवस्थी (द्विज बलदेव) ने उनके नाम पर *चंद्रकला* नाम के एक काव्य-ग्रंथ की रचना की। दोनों के बीच का प्रेम उन्नीसवीं सदी के साहित्यिक समाज में इतना चर्चित था कि दूसरे कवियों के बीच वह एक सार्वजनिक चर्चा और कई बार काव्य-रचना का विषय हो जाता था। न सिर्फ़ बूँदी राज्य की चंद्रकला और सीतापुर के बलदेव ने एक-दूसरे के लिए प्रेम कविताएँ लिखीं, बल्कि इनका प्रेम दूसरे कवियों के लिए भी काव्य का उपजीव्य बना। ऐसे हीं एक प्रसंग का ज़िक्र निर्मल जी ने *स्त्री कवि कौमुदी* में किया है, जिसे हम यहाँ उद्धृत कर रहे हैं,

> *उस समय हिंदी संसार में (चंद्रकला) बाई जी की काफ़ी शोहरत थी। एक बार बिस्वाँ-कविमंडल से प्रकाशित होने वाले 'काव्य-सुधाधर' पत्र में 'चंद्रकला' नाम की समस्या दी गई। अनेकों कवियों ने इसकी पूर्ति बड़ी बढ़िया की थी। वर्तमान प्रसिद्ध महाकवि पं. नाथूराम शर्मा की पूर्ति सर्वश्रेष्ठ थी। मिश्रबंधुओं के बहनोई पं. भैरव प्रसाद बाजपेयी 'विशाल' कवि बड़े मज़ाक़-पसन्द कवि थे। उन्होंने भी 'चंद्रकला' समस्या की पूर्ति की। कविदत्त जी काव्यसुधार के सम्पादक थे। 'विशाल' जी ने दत्त जी को सम्बोधित करके कविता में एक प्रश्न किया। और 'चंद्रकला' समस्या पर विशाल जी की पूर्ति इस प्रकार की—*
>
> *एक बास करै नित शम्भु के शीश पै दूजी है अम्बर में विमला।*
>
> *पुनि तीजी बघम्बर बूँदी के बीच है जो बलदेव की प्रेम-पला।*
>
> *अब हाल 'विशाल' कृपा करि के कवि दत्त जी मो को बताओ भला।*
> *इनमें विसवाँ कवि मंडल में यह कौन-सी राजति चंद्रकला॥*[25]

भले ही मिश्र बंधुओं ने हिंदी साहित्य के इतिहास में चंद्रकला को जगह न दी हो, उनके आस-पास चंद्रकला की चर्चा सर्वत्र होती थी। कविता की भी और उनके प्रेम की भी। उपरोक्त काव्यपूर्ति में चंद्रकला के उल्लेख में द्विज बलदेव को लक्ष्य करते हुए चुहल की कोशिश तो है लेकिन स्त्री-यौनिकता संबंधी किसी शुद्धतावादी आग्रह का अभाव है। चंद्रकला की कवि समाज में उपस्थिति को किसी अपवाद की तरह भी नहीं देखा जा रहा था। चंद्रकला न सिर्फ़ अपने निजी जीवन को बिना किसी द्विविधा के अपने तरीक़े से जी रही थीं बल्कि उनमें अपने प्रेम की सार्वजनिक स्वीकृति को लेकर भी किसी तरह का द्वंद्व नहीं दिखता। बहुत से आलोचक भारतेंदु और मल्लिका के प्रेम-संबंध को आधार बनाते हुए यह सिद्ध करते हैं कि भारतेंदु स्त्रियों की मुक्ति के प्रति कितने सदय और कितने आधुनिक थे। इस दृष्टि से देखें तो चंद्रकला और बलदेव कहीं आगे थे। भारतेंदु ने शायद ही कभी अपनी रचनाओं में मल्लिका के योगदान या मल्लिका से अपने प्रेम की सार्वजनिक चर्चा की हो। यहाँ ऐसा नहीं था। चंद्रकला और बलदेव दोनों ने एक दूसरे के लिए प्रेम कविताएँ लिखीं और उनमें एक दूसरे का बाक़ायदा नाम भी लिया। बलदेव ने तो पूरा ग्रन्थ ही चंद्रकला के नाम पर रच डाला। बलदेव ने चंदकला के लिए जो कविताएँ लिखी थीं उनमें से कुछ का उदाहरण मिलता है :

खुर्द घटै बढ़ै राहु गसै बिरही हियरे घने घाय घला है।

सौ तौ कलंकित त्यों विषयबंधु निसाचर बारिज बारि बला है॥
प्रेम-समुद्र बढ़े बलदेव के चित्त चकोर की चोप चला है।
काव्य-सुधा बरसै निकलंक उदै जससी तुहि चंद्रकला है॥

× ×

कहा ह्वैहै कछु नहिं जानि परै सब अंग अनंग सों जोरि ज़रे।
उतै बीथिन मैं बलदेव अचानक दीठि प्रकाशक प्रेम परे॥
हँसि कै गे अयान दया न दई है सयान सबै हियरे के हरे।
चले कौन ये जात लिए मन मो सिर मोर की चंद्रकला को धरे॥[26]

निर्मल जी की किताब में चंद्रकला के भी कुछ ऐसे पद संकलित हैं। यहाँ ऐसे ही एक पद को उद्धृत किया जा रहा है। विटप में कुसुम समूहों के खिलने पर चंद्रकला को 'भट बलवन्त' की याद हो आती है :

कुसुम समूह खिले विटप लतान मांहि,
सोई ताहि लागि रही भट बलवन्त की।
पल्लव नवीन लिए कर बिन म्यान असि,
कोकिल अवाज ध्वनि दूँदुभी अनन्त की॥
'चंद्रकला' चारों ओर भँवर नकीब फिरैं,
आली देखि देत ये दुहाई रति-कंत की।
बिन घनश्याम मोंहि कदन करनवारी,
जम की सवारी फुलवारी है बसंत की॥[27]

चंद्रकला-बलदेव का यह प्रसंग उन्नीसवीं सदी के उत्तर भारतीय समाज की एक दूसरी ही तस्वीर पेश करता है। यह तस्वीर हिंदी लोकवृत्त के 'पिछड़ेपन' और उसकी 'संकीर्णता' को लेकर रूढ़ की गई उस तस्वीर से बिल्कुल अलग है जिसके अनुसार उन्नीसवीं सदी की सभी स्त्रियाँ घरों में बंद थीं। यहाँ स्त्री शिक्षित है। वह रीतिकालीन परंपरा की अंतिम कड़ी के रूप में काव्य-गोष्ठियों और समस्यापूर्ति प्रतियोगिताओं में सक्रिय है। वह पुरुषों से प्रतिस्पर्धा में ख़ुद को श्रेष्ठ साबित करती है। पुरस्कार जीतती है। उसकी चर्चाएँ होती हैं। कवि उस पर कविता लिखते हैं। यह कविताएँ उसका नाम लेकर रची जाती हैं। अपनी सार्वजनिक उपस्थिति बूँदी से सीतापुर के बिस्वां की यात्राओं और अपने प्रेम के सार्वजनिक स्वीकार को लेकर उसके आचरण में किसी तरह की द्विविधा का कोई चिह्न नहीं दिखता। साथ ही दूसरे कवियों के बीच उसका नाम सम्मान के साथ लिया जाता है। उन्नीसवीं सदी की यह चंद्रकला और उसका यह प्रेम-प्रसंग स्त्री यौनिकता के मुद्दे पर हिंदी लोकवृत्त की रूढ़ और पिछड़ी छवि दिखलाने वाले शोधों के समक्ष एक गम्भीर प्रश्नचिह्न लगाता है। यह उन निष्कर्षों पर भी सवाल उठाता है, जहाँ रीति साहित्य में स्त्री के हर उल्लेख को स्त्री शोषण का प्रतीक बतला दिया जाता है। सबसे गम्भीर सवाल यह 'स्त्री यौनिकता के दमन' को हिंदी साहित्य की पहचान बताने वाले शोधों पर उठाता है। ऐसे में उन्नीसवीं सदी के दौरान हिंदीभाषी स्त्री की यौनिकता के कठोर और एक समान रूप से नियंत्रित होने को लेकर दिए गए इतिहासकारों के तमाम तर्क[28] कमज़ोर लगने लगते हैं। सम्भवतः स्त्रियों के लिए लिखी गई उपदेश-पुस्तिकाओं तथा बड़े साहित्यकारों द्वारा स्त्रियों को दिए गए उपदेशों को फ़ेस वैल्यू पर स्वीकार कर लेने से ही ऐसे सरलीकृत निष्कर्ष उपजते हैं। वास्तविक जीवन में भारतेन्दु भी मल्लिका के संग थे जिन्होंने भारतेन्दु की कई रचनाओं को तैयार कराया—ऐसा खुद भारतेन्दु के प्रपौत्र कहते हैं। नीरजा माधव लिखती हैं :

बाबू ब्रजरत्न दास और राय कृष्ण दास से भारतेन्दु की निकटता थी। राय कृष्ण दास ने मल्लिका के बारे में कुछ संस्मरण लिखे थे। आगे चलकर डा. बटेकृष्ण और भारतेन्दुजी के वंशज प्रो. जी. सी. चौधरी ने अपने एक संयुक्त लेख 'मल्लिका : भारतेन्दु की धर्मगृहीता' जो नागरी प्रचारिणी पत्रिका, संवत् 2058 अंक एक, वाराणसी में प्रकाशित हुआ, में लिखा कि भारतेन्दु और मल्लिका की उम्र में कोई विशेष अंतर नहीं था। मल्लिका जी एक पढ़ी-लिखी बंगाली बाल-विधवा थीं और तीर्थ-यात्रा के लिए काशी आई थीं। यहीं पर उनकी भेंट भारतेन्दु से हुई। भारतेंदु ने इसी वर्ष से हरिश्चंद्र मैगज़ीन का नाम बदलकर हरिश्चंद्र चंद्रिका कर दिया था। उस लेख की निम्नलिखित पंक्तियाँ महत्त्वपूर्ण हैं, "भारतेन्दुजी और मल्लिका जी दोनों में परस्पर अटूट प्रेम था। जिस प्रकार भारतेन्दुजी का जीवन देश और साहित्य की सेवा में समर्पित था, उसी प्रकार मल्लिकाजी भी उनके मनोनुकूल साहित्य सेवा में तन-मन से लगी थीं। उनके संयोग से उन्होंने हिंदी सीखी, ग्रंथ-रचना में उनका हाथ बँटाया, बांग्ला से अनेक ग्रंथों का अनुवाद करके हिंदी को समृद्ध करने में उनकी सहायता की। गद्य और पद्य में अनेक मौलिक रचनाएँ प्रस्तुत करके अपनी साहित्यिक कुशलता का परिचय दिया। उन्होंने कभी अपना नाम व्यक्त नहीं किया और अपने प्राणपति हरिश्चंद्र की कृतियों में उन्हें घुला मिला दिया। भारतेन्दुजी भी अवसर मिलने पर प्रकारान्तर से आभार बराबर मानते रहे।[29]

कोशिश यही होनी चाहिए कि शोध निजी जीवन पर कम से कम जाकर जो प्रिंट में कहा गया और जो लोक के बीच से संग्रहित किया गया, उसी पर केंद्रित रहे लेकिन गाहे-बगाहे उन्नीसवीं सदी को समझने के लिए ऐसे प्रसंगों का इस्तेमाल ज़रूरी हो जाता है। वह भी तब जब आलोचक और इतिहासकार 'आचरण पुस्तकों' में दिए गए उपदेशों के रास्ते ही उस युग का यथार्थ और इतिहास खोजने लगें। धार्मिक बहसें हिंदी के सार्वजनिक क्षेत्र में चला ही करती थीं। उसमें भी मामला जब स्त्री से जुड़ी आचरण संहिताओं का होता था, उस वक़्त बहसें अधिक कटुतापूर्ण और तीखी हो जाती थीं। ऐसी ही एक बहस का ज़िक्र यहाँ प्रासंगिक है। एक किताब 'श्री जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर' ने *ढूँढकहितशिका अपरनाम गप्पदिपिकासमीर* के नाम से प्रकाशित की। इसे एक जैन साध्वी द्वारा लिखी गई किताब *ज्ञानदीपिका* का खंडन करने के लिए लिखा गया था :

> *ढूँढकमनि आर्या पार्वती की बनावेली ज्ञान दीपिका—वास्तविक गप्पदीपिका का खंडन" अर्थात् ढूँढकमनि आर्या पार्वती की बनायी हुई ज्ञानदीपिका जो कि वास्तव में गप्पदीपिका है—का खंडन।*[30]

यह पुस्तक इतिहास से स्त्रियों के ग़ायब कर दिए जाने के पीछे की उस आक्रामकता का एक दस्तावेज है जहाँ आँखों के सामने दिखती हुई स्त्री के होने से भी उसके समकालीनों द्वारा इनकार कर दिया जाता है। एक स्त्री द्वारा पुस्तक रचने की गुस्ताखी पर भड़के हुए इस जैन लेखक ने लिखा :

> *विदित हो के इस हुंमावसप्पीर्णी काल में बहुत सी बातें अनर्थकारी हो गई हैं, और होती चली जाती हैं जिनमें से एक पहली बात सुज्ञजनों के हृदय में आश्चर्यजनक है कि स्त्रियाँ भी पुरुषों की सभा में बैठ के व्याख्यान करती हैं और प्रश्नोत्तर रूप खंडन-मंडन करने वाली पुस्तकें रचती हैं। जैसे पार्वती ढूँढकणी ने ज्ञानदीपिका नामे पुस्तक रचा है। आश्चर्य यह है कि जैन शासन में हज़ारों साधवीयाँ हो गई हैं पर किसी साधवी का रचा हुआ कोई पुस्तक बाँचने और सुनने में नहीं आया है।*[31]

यहाँ लेखक दूसरे किसी धर्म संप्रदाय में भी स्त्रियाँ लेखिका हो सकती हैं, इस संभावना से इनकार कर देता है :

> *जैनमत के बिना अन्य मतों में भी हमने नहीं सुना है कि स्त्री का रचा अमुक शास्त्र है, वा अमुक स्त्री ने पुरुषों की सभा में व्याख्यान करा, वा स्त्री को पुरुषों की सभा में व्याख्यान करने की आज्ञा है।*[32]

क्या सच में उन्नीसवीं सदी के इस लेखक ने स्त्री द्वारा रची किसी भी किताब के बारे में नहीं सुना था? अगर इस किताब के तर्कों को इतिहास के तथ्य मान लें और ज्यों का त्यों स्वीकार कर लें तो हमें यह मानना पड़ेगा कि आर्यापार्वती से पहले कभी किसी स्त्री ने कोई किताब नहीं लिखी थी। यह मोटी-सी पुस्तक सोशल मीडिया की वर्तमान 'ट्रोलिंग' को भी पीछे छोड़ देती है। लेखिका के ब्रह्मचारिणी होने के दावों तथा उसकी धार्मिकता पर प्रश्नचिह्न लगाने के अलावा इस किताब ने आर्यापार्वती और उसके संप्रदाय के लगभग प्रत्येक पुरुष-सदस्य के साथ उसके यौन संबंधों को प्रस्तावित किया है। पुस्तक का केंद्रीय सवाल यही है कि एक स्त्री पुस्तक लिखने और पुरुषों को कुछ सिखलाने की गुस्ताखी कर ही कैसे सकती है। यह भी पूछा गया है कि अमुक जैन मठ में कोई पुरुष लेखक नहीं बचा था जो उन्हें एक औरत से किताब लिखवानी पड़ी! यह जर्डा लर्नर द्वारा प्रस्तावित जनसंचार माध्यमों की उस प्रतिक्रिया का ही एक उदाहरण है जिसने स्त्री लेखिकाओं और महिला संगठनों के रूप में उभरे एक विपरीत ट्रेंड—स्त्री की सार्वजनिक उपस्थिति—पर एक कड़वी प्रतिक्रिया देते हुए स्त्री के घरेलूपन पर ज़ोर देने की कोशिश की। भारतेन्दु हरिश्चंद्र ने भी '*मुशायरा*' नाम की एक नाटिका इसी विषयवस्तु पर रची थी जिसमें सभाओं में मुँह खोल कर व्याख्यान करने वाली '*ललाईन*' का मज़ाक़ उड़ाया गया था। कुछ हिस्से उद्धृत हैं :

> *मुशायरा*
> *चिड़ीमार का टोला। भाँत-भाँत का जानवर बोला।*
>
> *लखनऊ, दिल्ली, बनारस, पूरब और दखिन के कई मुफ़्तख़ोरे शायर एक जगह जमा हुए और लगे रंग बिरंगी बोलियाँ बोलने। मैंने भी वहीं मैक्राफून*[33] *की कल लगा दी। जो कुछ उसमें आवाज़ बन्द हो गई आप लोग भी सुन लीजिए।*
>
> *सबसे पहिले लाला साहब उठे...लाला साहब के गाने के बाद ललाइन साहब से भी न रहा गया। कुछ जो मेमसाहब की तालीम ने तन्दी किया सो चट से कूद परदे के बाहर बेतकल्लुफ़ तशरीफ़ लायीं और मटक मटक कर कहने लगीं :*

"लिखाय नाहीं देत्यो पढ़ाय नाहीं देत्यो।
सैयाँ फिरंगिन बनाय नाहीं देत्यो॥
लहँगा दुपट्टा नीक न लागे।
मेमन का गौन मँगाय नाहीं देत्यो॥
हम ना सोइबे कोठा अटरिया।
नदिया प बँगला छबाय नाहीं देत्यो।
सरसों का उबटन हम ना लगैबे।
साबुन से देहिया मलाय नाहीं देत्यो॥
डोली मियाना प कब लग डोलों।
घोड़वा प काठी कसाय नाहीं देत्यो॥
कब लग बैठीं काढ़े घुँघटवा।
मेला तमासा जाये नाहीं देत्यो॥
लीक पुरानी कब लग पीटों।
नई रीत रसम चलाय नाहीं देत्यो॥
गोबर से ना लीपव पोतब।
चूना से भितिया पोताय नाहीं देत्यो॥
खुसलिया छदम्मी ननकू हनकाँ।
विलायत का काहें पठाय नाहीं देत्यो॥
बहुत दिनाँ लग खटिया तोडिन।
हिंदुन का काहें जगाय नाहीं देत्यो॥
दरस बिना जिय तरसत हमरा।
कैसर का काहें दिखाय नाहीं देत्यो॥
हिज्रपिया तोहे पैयाँ पड़त हैं।
पंचा[34] माँ एहकाँ छपाय नाहीं देत्यौ॥

यह कविता 'भारतेन्दु' हरिश्चंद्र ने अपनी समकालीन शिक्षित महिलाओं का मज़ाक़ उड़ाने के लिए लिखी थी, जो उस दौर में 'आधुनिक' तरह की शिक्षा पाकर 'बेतकल्लुफ़' हो रही थीं। एक जाति-विशेष की महिला—कायस्थ महिला—को निशाना बनाकर लिखी गई यह कविता जिन 'चिड़ीमारों' और 'मुफ़्तखोरों' के मुशायरे का वर्णन करती है, उसमें बनारस के 'गुंडों', लखनऊ के 'शोहदों' आदि 'भाँत-भाँत के जानवरों' के बीच उन्नीसवीं सदी की वह कायस्थ शिक्षिता भी रखी गई है जिसने 'मेमसाहब' से शिक्षा पाई है और जो 'अवध पंच' जैसी पत्रिका में प्रकाशित होने की चाह रखती है। इस शिक्षा का असर कुछ ऐसा है कि 'ललाइन' को परदे का लिहाज़ भी नहीं है और वह सबके सामने बेपरदा आकर खड़ी है। उसकी इच्छाएँ अनियंत्रित हो चुकी हैं और वह 'फिरंगिनों' की नक़ल करने लगी है। उसकी माँगें उसके पति के लिए मुश्किलें पैदा करने वाली हैं जो सिर धुन-सा रहा है—"कैसी मेहरारू है ई, हाय जनाना कैसा"। यह परिणाम मेमसाहबों से उसको शिक्षा दिलवाने का है। अब उसे न तो अपने भारतीय लिबास पसंद हैं न ही वह गोबर-माटी में अपना हाथ लगाना चाहती है। तरह-तरह की फ़रमाइशों की झड़ी उसने अपने पति के सामने लगा दी है। पढ़-लिखकर उसे अपना घर भी नहीं सुहा रहा, न ही श्रृंगार के पुराने तौर-तरीक़े। वह घूँघट काढ़कर बैठने से भी मना कर रही है और मेला-तमाशा घूमना चाहती है। अपने बच्चों—खुसलिया, छदम्मी, ननकू को विलायत भेजने का सपना देख रही है। ध्यान देने की बात यह है कि यह एक मुशायरे में किसी शिक्षिता द्वारा पढ़ी गई कविता के बोल बताए गए हैं—जिसे 'मुफ़्तख़ोरे' शायरों की रंग-बिरंगी बोलियों में से एक समझ हरिश्चंद्र ने 'मैक्राफ़ून' में रिकॉर्ड कर लिया था और उन्हें हिंदी के सहृदय पाठकों को सुना रहे हैं। इसकी सबसे 'मज़ाक़िया' बात 'ललाईन' का वह हौसला है जो वह अपनी इन माँगों को 'अवध पंच' जैसे प्रतिष्ठित अख़बार में छपवाने का सपना देख रही है। 'ललाईन' यहीं नहीं रुकी, उसे एक लम्बे समय से 'खटिया तोड़ रहे' अर्थात् सोए हुए हिंदुओं को जगाने की भी चिंता है। "हिंदुन का काहें जगाय नाहीं देत्यो"। क्या हिंदुओं के इसी जगाने को रामविलास शर्मा और उनकी परंपरा के आलोचक 'हिंदी नवजागरण' नहीं कह रहे थे? लेकिन हरिश्चंद्र की यह कविता इस कथित नवजागरण का पक्ष रखती तो नहीं दिखाई देती। हरिश्चंद्र तो इस कायस्थ शिक्षिता (ललाईन) द्वारा की जा रही हिंदुओं के जगाने (नवजागरण) की माँग का मज़ाक़ उड़ाते ही दिख रहे हैं। या फिर हिंदुओं को जगाने का एकाधिकार उच्च जातियों के मध्यवर्गीय पुरुषों ने अपने लिए सुरक्षित कर लिया था जिसमें वे साझा 'हिंदू हित' की मनचाही व्याख्या किया करते? क्या यह पढ़ी-लिखी 'ललाइन' के हिंदी लोकवृत्त में बेतकल्लुफ़ी से घुस आने से उपजा गुस्सा था जो बाबू हरिश्चंद्र की इस कविता में दिखलाई देता है?

यहाँ भारतेन्दु ने काव्य-गोष्ठियों में बेपरदा कविता पाठ करने वाली स्त्रियों को लेकर एक तीखी प्रतिक्रिया दी थी। यह प्रतिक्रिया उस जैन साधू की प्रतिक्रिया जितनी भोथरी नहीं थी लेकिन काव्य के आवरण में छिपा हुआ क्रोध वैसा ही था। इन दोनों ही प्रसंगों में स्त्रियों की सार्वजनिक मौजूदगी को लेकर रूढ़िवादी लेखक वर्ग की नाराज़गी के जो सबूत मिलते हैं, उनसे यह पता चलता है कि सार्वजनिक जीवन में स्त्रियों का बने रहना न तो मध्यवर्गीय पुरुष लेखकों में

से बहुतों को पसंद आ रहा था और न ही धार्मिक मठों से जुड़े व्यक्तियों को। अगर इस प्रसंग को इसके फ़ेसवैल्यू पर लिया जाए तो कोई यह कह सकता है कि उस वक़्त पार्वती साध्वी अकेली स्त्री थी जिसने सभा में पुरुषों के बीच बैठने का साहस किया और पुस्तक लिखी और देखिए उसे कैसे विरोध का सामना करना पड़ा! इससे यह निष्कर्ष निकलेगा कि स्त्रियों का लिखना और लिखने के लिए शिक्षित होना अपवाद था, किंतु क्या वाक़ई ऐसा था? जैनसंघ की ओर से खंडन-पुस्तक छपवाकर जो प्रतिक्रिया दी गई वह पितृसत्तात्मक समाज के भीतरी तनाव को दर्शा रही थी, न कि इस बात को कि उस वक़्त लिखने वाली स्त्रियाँ ही न थीं। इस तरह के प्रभावशाली व्यक्तियों के विरोध और नापसंदगी को झेलकर जो स्त्रियाँ सार्वजनिक जीवन में अपनी बात रख रही थीं, उन पर इक्कीसवीं सदी की आलोचना में खोट निकालना और उनके संघर्ष को कम करके आँकना वाजिब नहीं है। अफ़सोस कि उन्नीसवीं-बीसवीं सदी के साहित्य के ज़रिए स्त्रियों के जीवन के बारे में निष्कर्ष निकालने में प्राय: आलोचक इसी शोध-पद्धति का इस्तेमाल कर रहे हैं।

मसला इतिहास-पुस्तकों में लेखिकाओं की उपेक्षा का ही नहीं है बल्कि स्त्री संबंधी इतिहासलेखन की पद्धति का भी है। कहाँ तो उन्नीसवीं सदी के एक-एक लेखक पर पचासों किताबें मिलती हैं। वहीं दर्जनों किताबें लिखने वाली स्त्री रचनाकारों के दस-बारह शुद्ध-सात्विक पदों को छाँटकर उन्हें दो-चार संग्रहों के भीतर समेट दिया गया है। न तो इन संग्रहों पर विस्तार से बात करने की ज़रूरत समझी गई, न ही उन्हें संरक्षित करने की। यहाँ पचास-पचास लेखिकाएँ 'स्त्री कवि कौमुदी' या 'महिला मृदुवाणी' जैसे छोटे-छोटे संग्रहों में ठूँस-ठूँस कर क्यों भरी गई हैं तथा उन सभी की जीवनी उन्हें "आदर्श हिंदू स्त्री" क्यों दिखलाती है, इसे समझने की ज़रूरत है। साथ ही लगभग दर्जन-भर किताबें लिख-लिख कर भी यह लेखिकाएँ साहित्येतिहास पुस्तकों में जगह क्यों नहीं बना पाईं यह समझना भी ज़रूरी है। इतिहासलेखन की इस उपेक्षा पर सवाल उठाए बिना उन्नीसवीं सदी के इस प्रतिलोकवृत्त के यथार्थ तक नहीं पहुँचा जा सकता है।

यूरोप की तर्ज़ पर 'स्त्री के घरेलूपन' संबंधी आदर्श की ओर बढ़ चले हिंदी के सार्वजनिक क्षेत्र में जहाँ सार्वजनिक जीवन में स्त्रियों की भागीदारी पर सवाल उठाए जाने लगे थे—इन विचारों का प्रतिनिधि साहित्येतिहासकार भला क्योंकर उन्हें अपने अध्ययन में शामिल करता और अपनी इतिहास-पुस्तकों में जगह देता। यही वह वजह है जो स्त्रियाँ उन्नीसवीं सदी के लोकवृत्त में भागीदारी रखती हुई भी बाहरी और अतिक्रमणकारी ही समझी जाती रहीं और इतिहास-ग्रंथों में उनके लिए जगह संकुचित ही बनी रही।

जैसा कि हमने देखा उन्नीसवीं सदी के हिंदी सार्वजनिक क्षेत्र में स्त्रियाँ ग़ैरमौजूद नहीं थीं। यूरोप और अमेरिका की तरह यहाँ भी वे एक प्रतिस्पर्धी लोकवृत्त के रूप में मौजूद थीं जिन्हें नैन्सी फ्रेज़र ने सबाल्टर्न पब्लिक का नाम दिया है। भले ही हिंदी लोकवृत्त में स्त्रियों की सक्रियता के इतिहास को ठीक ढंग से सुरक्षित न किया गया हो और उन्नीसवीं सदी के 'हिंदी नवजागरण' संबंधी तमाम अध्ययन दिखलाते हों कि उस वक़्त का साहित्यिक क्षेत्र पूरी तरह से पुरुषों से बना हुआ था, लेकिन वास्तव में हिंदी का लोकवृत्त कभी ऐसा एकरेखीय, एकांगी और संकीर्ण नहीं था। उन्नीसवीं सदी के हिंदी सार्वजनिक क्षेत्र में स्त्रियाँ न सिर्फ़ मौजूद थीं बल्कि वे जैसा कि अब तक प्रस्तावित किया जाता रहा है उस तरह स्त्री के किसी पृथक क्षेत्र (घरेलू क्षेत्र) में क़ैद भी नहीं थीं। अब तक मध्यवर्गीय पुरुषों के 'एकांगी लोकवृत्त' के रूप में परिभाषित किए जाते रहे उस हिंदीभाषी संसार में यह स्त्रियाँ अपना एक प्रतिस्पर्धी पक्ष रख रही थीं। वे हिंदी के लोकवृत्त में 'काउंटर पब्लिक' के रूप में उभरी थीं। एक प्रतिस्पर्धी लोक के रूप में इन स्त्रियों ने उन्हीं मुद्दों पर जिन पर लिखते-बोलते हुए हिंदी के रूढ़िवादी धारा के लेखक इन स्त्रियों को घेर रहे थे—एक स्त्री के रूप में अपना जवाबी पक्ष रखा। यह स्त्रियाँ न तो अकेली थीं न ही स्त्री बनाम पुरुष जैसे द्वैत में उन्नीसवीं सदी की इन स्त्रियों की सार्वजनिकता को समझा जा सकता है। यह सच है कि उच्च जातीय लेखकों का एक पक्ष अपने रूढ़िवादी विचारों के साथ स्त्रियों की सार्वजनिक मौजूदगी पर लगातार नापसंदगी ज़ाहिर कर रहा था लेकिन इसी वक़्त हिंदी लेखकों का एक सुधारवादी धड़ा भी मौजूद था जिसका समर्थन इन स्त्रियों को हासिल था।

भारतेन्दु युग के नाम से परिचित यह समय हिंदी की आलोचना में एक ऐसे युग के रूप में दिखलाया जाता है जब स्त्रियाँ निरपवाद रूप से घरों में बंद थीं (ऐसे नतीजे निकालते वक़्त यह भी ध्यान नहीं रखा जाता कि बहुसंख्यक स्त्रियाँ उन कामगार वर्गों, किसान परिवारों और दलित जातियों से ताल्लुक़ रखती थीं जिनके लिए परदे की व्यवस्था मौजूद नहीं थी) और 'मूर्खता के आवरण' ने उन्हें इस हद तक

घेर रखा था कि इस दौर के 'नवजागृत' हिंदी लेखकों को इनके 'सुधार' की एक मुहिम चलानी पड़ी। इसी 'सुधार' की कोशिश का श्रेय हिंदी के आलोचक प्राय: रूढ़िवादी लेखकों द्वारा लिखी गई 'स्त्री शिक्षा' की किताबों और भारतेन्दु द्वारा निकाली जा रही *बालाबोधिनी* पत्रिका को देते हैं। इन आलोचनाओं से उन्नीसवीं सदी के एक ऐसे सार्वजनिक परिदृश्य का आभास होता है, जहाँ स्त्रियाँ कुछ भी समझने में सक्षम नहीं थीं। न तो उन्हें अपनी सामाजिक हीनता का अहसास था, न ही उन्हें एक स्त्री के रूप में अपने पक्ष की चेतना थी। यह पूर्वग्रह हिंदी साहित्य के इतिहासलेखन की किताबों में इन स्त्रियों को जगह न दिए जाने के कारण भी बना हुआ है और आधुनिकता की रेखीय समझदारी रखने वाले आलोचकों की दृष्टिगत सीमाओं के कारण भी।

सन सत्तावन के विद्रोह के बाद हिंदी की दूर तक फैली हुई एक ऐसी सार्वजनिकता विकसित हुई जो पंजाब से लेकर बंगाल, पश्चिमोत्तर प्रांत, दिल्ली, मध्यप्रांत और बम्बई तक मौजूद थी। उन्नीसवीं सदी में हिंदी के सबसे बड़े छापेखाने बम्बई, पटना, कलकत्ता, लखनऊ, तथा बनारस में स्थापित थे। इसके अलावा प्राय: सभी क़स्बों-शहरों में छोटे-बड़े प्रेस थे और लगभग हर शहर में ऊँची हैसियत रखने वाले लोगों ने छपाई की दुनिया में दिलचस्पी लेना शुरू कर दिया था। देखते ही देखते घरों की समस्याएँ अख़बारों की समस्याएँ बनती जा रही थीं और स्त्रियों के चाल-चलन, रिवाजों, उनकी अंतरंग दुनिया और शिक्षा आदि को लेकर हो रही सार्वजनिक चर्चाएँ गम्भीर होने लगी थीं। इस समय एक दूसरा कारक भी साथ-साथ काम कर रहा था। यह था 1854 के बाद से स्त्रियों और पुरुषों को समान पाठ्यचर्या में आधुनिक शिक्षा उपलब्ध कराने वाले विद्यालयों का सरकार द्वारा खोला जाना और इनसे पढ़कर निकलने वाली कुछ स्त्रियों का नौकरी करने का फ़ैसला। इन परिस्थितियों ने देशज मध्यवर्गीय पुरुषों को अपने घरों की स्त्रियों की शिक्षा की बागडोर अपने हाथ में रखने को प्रेरित किया।

यह सम्भव है कि भारतेन्दु जैसी सृजनशीलता अथवा बालकृष्ण भट्ट जैसी राजनीतिक प्रखरता उन्नीसवीं सदी की इन स्त्री रचनाकारों में न रही हो। बहुत से पुरुष लेखक भी उतने प्रतिभाशाली नहीं थे लेकिन वे साहित्येतिहास पुस्तकों में अपना स्थान सुरक्षित करने में सफल रहे। जबकि इन लेखिकाओं की साहित्यिक तथा सार्वजनिक वृत्त में उपस्थिति की उपेक्षा की गई। इस उपेक्षा से हिंदीभाषी प्रदेशों से सम्बद्ध उन्नीसवीं सदी का सार्वजनिक इतिहास केवल एक लैंगिक समूह की सार्वजनिकता तथा रचनाशीलता का इतिहास बनकर रह जाता है। 'हिंदी साहित्य का इतिहास' जहाँ पश्चिमोत्तर प्रांत के छोटे-बड़े तमाम लेखकों को उनके कुल, गोत्र, जाति, उपजाति के ब्योरे के साथ अपने विश्लेषण में जगह देता है वहीं स्त्रियों की रचनाशीलता के विषय में पूरी तरह से मौन है। बंगमहिला और महादेवी वर्मा के अलावा किसी आधुनिक स्त्री रचनाकार को शुक्ल जी अपनी पुस्तक में दो पंक्ति की जगह देने लायक़ भी न समझ सके। स्त्री लेखिकाओं की इस 'अनधिकार चर्चा' पर हिंदी के सबसे बड़े सहित्येतिहासकर की खीझ को उनके इन कथनों से भी समझा जा सकता है :

> *इन्हीं बीस-इक्कीस वर्षों के बीच हिंदी साहित्य का मैदान काम करने वालों से पूरा-पूरा भर गया, जिससे उनके कई अंगों की बहुत अच्छी पूर्ति हुई, पर साथ ही बहुत-सी फ़ालतू चीज़ें भी इधर-उधर बिखरीं। ...केवल पाश्चात्य साहित्य के किसी कोने से आँख खोलने वाले और योरप की हर एक नई पुरानी बात को 'आधुनिकता' कह कर चिल्लाने वाले लोगों के द्वारा बहुत कुछ अनधिकार चर्चा—बहुत-सी अनाड़ीपन की बातें—भी फैल चलीं।... इनके कारण हमारा सच्चा साहित्य रुका तो नहीं, पर व्यर्थ की भीड़-भाड़ के बीच ओट में अवश्य पड़ता रहा।*[35]

इस संदर्भ में *स्त्री कवि कौमुदी* के संपादक ने ठीक ही लिखा है :

> *यह ठीक है कि पुरुष कवियों की तुलना में स्त्री कवियों की संख्या बहुत न्यून है। परंतु इस संबंध में खोज भी नहीं हुआ और न साहित्य के इस एक विशेष अंग की रक्षा करने और संचय करने की ओर प्रयत्न ही किया गया। हिंदी में अनेक संग्रह ग्रंथ प्राचीन और अर्वाचीन मौजूद हैं परंतु किसी ने स्त्रियों की रचनाओं को विशेष महत्त्व नहीं दिया। शिवसिंह सरोज प्राचीन संग्रह है। उसमें भी सूक्ष्म परिचय और कवियों की नामावली दी है। मिश्रबंधुओं ने भी बड़े ही परिश्रम से मिश्रबंधुविनोद में जिन-जिन कवियों की खोज की है, वह वास्तव में बड़ा उत्कृष्ट काम है और जो किया गया है, वही बहुत है; परंतु स्त्रियों की रचनाओं के संबंध में विशेष ध्यान नहीं दिया गया है। हाँ, राजपूताने के सुप्रसिद्ध मुंशी देवी प्रसाद जी ने वास्तव में इतिहास संबंधी कुछ गवेषणा की है जो उनके इतिहास संबंधी विद्वत्ता को प्रकट करती है।*

इसलिए हिंदी में एक ऐसे संग्रह की आवश्यकता प्रतीत हो रही थी जिसमें केवल स्त्री कवियों की ही रचना संग्रहीत होती और उन के संबंध में अध्ययन की सामग्री एक ही पुस्तक में एकत्रित की जाती।[36]

इस किताब में संग्रहीत पद दिखलाते हैं कि किस तरह स्त्री शिक्षा को लेकर चलने वाले इस विमर्श में स्त्रियाँ खुद भी शामिल थीं। सरस्वती देवी नाम की एक लेखिका ने एक शिक्षित स्त्री किस तरह घरेलू दायित्वों के कारण अख़बारों और सार्वजनिक जीवन से कटती चली जाती है उसे लेकर एक कविता लिखी :

ज़िला जू आज़मगढ़ अहै तामहँ एक विचित्र।
ग्राम कोईरियापार के कवि द्विज रामचरित्र॥
ताकी कन्या एक मैं मूर्ति मूर्खता केरि।
कुलवंतिन-पद धूरि अस गुणवंतिन की चेरी॥
मम शिक्षक कोउ और नहिं निज ही पिता सुजान।
कठिन परिश्रम करि दियो विद्या-दान महान॥
प्रथम पढ़ायो व्याकरण पुनि कछु काव्य विचार।
तदनन्तर सिखयो गणित बहुरि सुरीति प्रकार॥
तब कुछ उर्दू फ़ारसी बंगला वर्ण सिखाय।
कुछ अंगरेजी अक्षरन पितु मोहिं दीन्ह दिखाय॥
जब लग मैं मैके रही लिखत पढ़त रही नित्त।
अब घर पर परवस परि रहिं नहिं सकत सुचित्त॥
गृहकारज व्यवहार बहु परै सँभारन मोहिं।
लिखन पढ़न इक संग ही यह सब कैसे होहि॥
समाचार के पत्र जे आवत हैं मम पास।
तिनके देखन के लिए मिलत न मोहिं सुपास॥[37]

उस वक़्त की स्त्रियों द्वारा रचा गया जो साहित्य बचा रह गया है, वह दिखलाता है कि 'स्त्री धर्म' और पातिव्रत को लेकर हिंदी की सृजनशील महिलाएँ काफ़ी सजग थीं। कुछ ने इसके पक्ष में लिखा, कुछ ने इसका विरोध किया लेकिन इसे उपेक्षित कर पाना उनके लिए सम्भव नहीं था। घरेलू जीवन का सारा दायित्व अकेले स्त्री पर डाल देने वाली इस नवीन मध्यवर्गीय जीवन-शैली ने स्त्रियों की सार्वजनिक सक्रियता को मुश्किल बनाने का काम ही किया। निर्मल के इस संग्रह में बहुत-सी महिलाओं की यह शिकायत थी कि पहले तो वे रसिक मित्र जैसी पत्रिकाओं में लिखा करती थीं लेकिन धीरे-धीरे घरेलू दायित्वों के बढ़ते जाने से अब वे नहीं लिख पातीं। यह प्रसंग स्त्रियों के जीवन और उनकी सार्वजनिकता से जुड़ी मुश्किलों को अधिक बेहतर तरीक़े से सामने रखते हैं। हालाँकि स्त्री संबंधी संग्रहों के सम्पादकों ने उस वक़्त की स्त्रियों की रचना के ज़रिए उनका आज के पाठकों से संवाद बहुत मुश्किल बना दिया है। इसकी सबसे बड़ी वजह संग्रहकर्ता की वह चयनात्मक दृष्टि है जिसका मूल स्रोत हिंदू पितृसत्ता है। लेखिका के जीवन से अपने मनपसंद विचारों को रखने वाली कविताओं और जीवन-प्रसंगों का सम्पादक के द्वारा चुना जाना और बाक़ी जानकारियों को सेंसर करना भी इसी प्रक्रिया की एक कड़ी थी।

नागरी प्रचारिणी सभा की रिपोर्ट, ज्योतिप्रसाद मिश्र निर्मल के स्त्री-कवियों संबंधी दो संग्रहों, *राजपूताना में हस्तलिखित हिंदी ग्रंथों की खोज* और इसके आधार पर लिखी गई पुस्तक *महिला मृदुवाणी*, सावित्री सिन्हा का मध्यकालीन स्त्रियों पर शोध, *सरस्वती*', '*कमला*', *लक्ष्मी*, *आर्य महिला* पत्रिकाओं आदि के स्रोतों के ज़रिए उस वक़्त की हिंदी कवयित्रियों की रचनाएँ देखने को मिलती हैं। इनमें चयनकर्ता की दृष्टि के कारण एक-एक कवयित्री द्वारा रचे गए दस-बारह ग्रंथों में से जिन चार या पाँच पदों को चुना गया वे सभी उस वक़्त की दृष्टि के हिसाब से 'स्त्रियोचित' पद थे। कहीं-कहीं शृंगारिक पद भी देखने को मिल जाते हैं लेकिन प्रायः ज़ोर पातिव्रत के उपदेश वाले प्रसंगों का संग्रह करने पर ही है। इस तरह स्त्री की शिक्षा या 'स्त्री धर्म' के विषय में इन स्त्रियों की जो राय जानने की मिलती है वह एकांगी है। इन संग्रहों की दिलचस्प बात यह है कि इनमें हरदेवी जैसी स्त्रियों को नहीं रखा गया जो 'स्त्रियोचित' समझे जाने वाले विचारों को अपने लेखन में नहीं दोहराती थीं और उससे तर्क-वितर्क किया करती थीं। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि हरदेवी अपने समय में इन स्त्रियों (और तमाम पुरुष लेखकों) से कम महत्त्वपूर्ण थीं। ऐसा नहीं था। उदाहरण के लिए ज्योतिप्रसाद मिश्र 'निर्मल' की *स्त्रीकवि कौमुदी* में उन्नीसवीं सदी की क़रीब पैंतीस स्त्री रचनाकारों पर बात की गई है, उनमें हरदेवी को शामिल नहीं किया गया है। इसी पुस्तक में जब 'निर्मल' बीसवीं सदी की स्त्री लेखिकाओं की चर्चा के क्रम में 1893 में जन्मी रमा देवी की चर्चा करते हैं तो प्रसंगवश हरदेवी का ज़िक्र भी आ जाता है :

श्रीमती रमा देवी का जन्म सम्वत् 1940 (1883 ई.) में प्रयाग में हुआ था। आपके पिता का नाम पं. रामधीन दुबे और माता का नाम कौशल्या देवी था। आपके पिता कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। पं. रामधीन दुबे एक अच्छे

इंजीनियर थे। ये पैकोली ज़िला रायबरेली के रहने वाले थे। श्रीमती जी को विद्याभ्यास घर पर ही कराया गया। बाल्यकाल में मिसेज़ ब्राईबो नामक एक ईसाई महिला द्वारा आपको शिक्षा प्राप्त हुई। आप अपने पिता की चौथी संतान हैं।

आपका विवाह 8 वर्ष की अवस्था में पं. ललिता प्रसाद त्रिपाठी के पुत्र पं. चंद्रिका प्रसाद तिवारी से प्रयाग के निहालपुर गाँव में हुआ। ससुराल जाने के बाद भी आप उक्त मेम साहब से सिलाई और संतान पालन-विधि आदि अनेक महिलोपयोगी कार्य सीखती रहीं। आपने दस वर्ष तक उक्त मेम साहब से शिक्षा प्राप्त की।

पंजाब से मुंशी रोशनलाल की धर्मपत्नी श्रीमती हरदेवी भारत भगिनी नाम की पत्रिका निकालती थीं। वे श्रीमती रमा देवी को प्रोत्साहन दिया करती थीं। इससे ये कविता भी थोड़ा-थोड़ा लिखने लगीं। पहले ये मामूली गाने-बजाने के भजन आदि बनाया करती थीं। अनेक दिनों के अभ्यास और कविता प्रेम से ये अच्छी कविता लिखने लगीं। कुछ दिन बाद ये कानपुर के प्रसिद्ध पत्र रसिक मित्र में समस्या पूर्तियाँ छपवाने लगीं। फिर भारतभगिनी, स्वदेश-बांधव, मर्यादा, प्रियंवदा, और जाह्नवी आदि पत्र-पत्रिकाओं में इनकी कविता प्रकाशित होने लगी।[38]

हरदेवी एक समाजसुधारक और पत्रकार थीं। वे नई उभरती लेखिकाओं को प्रोत्साहन दे रही थीं—यह सब जानने वाले संग्रहकर्ता को यह भी पता रहा होगा कि हरदेवी सार्वजनिक जीवन में कितनी सक्रिय हैं। इसके बावजूद हरदेवी को उन्नीसवीं सदी की दूसरी स्त्रियों के बीच जगह नहीं दी गई। वजह स्पष्ट है—हरदेवी का निजी जीवन उस वक़्त के रूढ़िवादी पुरुषों को 'स्त्रियोचित' या स्त्री उपयोगी नहीं लगता था और इसलिए हरदेवी को इन संग्रहों से बाहर रखा गया। इनमें से एक संग्रह *स्त्री कवि संग्रह* को प्रयाग की महिला विद्यापीठ ने अपने यहाँ की लड़कियों को स्त्री कवियों से परिचित करवाने के ख़याल से मिश्र जी से कहकर तैयार करवाया था। इन संग्रहों और प्रकारान्तर से इनके ज़रिए ज्ञात साहित्येतिहास से केवल हरदेवी को ही नहीं बाहर रखा गया, स्त्री से जुड़ी पितृसत्ता का विरोध करने वाली दूसरी स्त्रियाँ भी सम्पादकों की इन 'मर्यादाओं' का शिकार बनीं। इनमें से एक थीं हरिश्चंद्र की मित्र मल्लिका। हरिश्चंद्र के प्रपौत्र जी.सी. चौधरी ने मल्लिका को उनकी पाण्डुलिपियों और हरिश्चंद्र की छाया से बाहर लाने का काम किया है। उन्होंने बताया कि भारतेन्दु के नाम से जाने गए बहुत से ग्रंथ मल्लिका के लिखे हुए थे। वह मल्लिका ही थीं जिन्होंने बांग्ला का बहुत-सा साहित्य अपने मित्र के लिए अनूदित किया था। लेकिन मल्लिका का नाम कभी सामने नहीं आया। इसकी वजह बताते हुए जी. सी. चौधरी लिखते हैं कि वे 'पतिव्रता' थीं, इसलिए उन्होंने अपना नाम नहीं दिया। *हिंदी साहित्य का ओझल नारी इतिहास* नाम के अपने संग्रह में नीरजा माधव ने सूचना दी है :

भारतेन्दुजी और मल्लिका जी दोनों में परस्पर अटूट प्रेम था। जिस प्रकार भारतेन्दुजी का जीवन देश और साहित्य की सेवा में समर्पित था, उसी प्रकार मल्लिकाजी भी उनके मनोनुकूल साहित्य सेवा में तन-मन से लगी थीं। उनके संयोग से उन्होंने हिंदी सीखी, ग्रंथ रचना में उनका हाथ बँटाया, बँगला से अनेक ग्रंथों का अनुवाद करके हिंदी को समृद्ध करने में उनकी सहायता की। गद्य और पद्य में अनेक मौलिक रचनाएँ प्रस्तुत करके अपनी साहित्यिक कुशलता का परिचय दिया। उन्होंने कभी अपना नाम व्यक्त नहीं किया और अपने प्राणपति हरिश्चंद्र की कृतियों में उन्हें घुला-मिला दिया। भारतेन्दुजी भी अवसर मिलने पर प्रकारान्तर से आभार बराबर मानते रहे।[39]

भारतेन्दु ने यह आभार किस तरह माना? मल्लिका की रचनात्मक प्रतिभा का प्रयोग भारतेन्दु की कृतियों की गुणवत्ता को बढ़ाने में हो रहा था—क्या वास्तव में भारतेन्दु ने कहीं यह स्वीकार किया था? यह 'पातिव्रत' शब्द उस वक़्त बहुत अधिक इस्तेमाल होता था। स्त्रियों के द्वारा भी और पुरुषों के बीच भी। 'पातिव्रत' का दानव स्त्री की सृजनात्मकता के श्रेय को पहली बार नहीं निगल गया था। मालूम होता है, हिंदी साहित्य की परंपरा में इसका एक इतिहास है। सम्भवतः साथ मिलकर रचने वालों में केवल 'भड्डरि' ही ऐसी थी जिनका नाम उनके पति घाघ के साथ लिया जाता है। *नागरी प्रचारिणी सभा* की रिपोर्ट साईं, शेख़ आदि ऐसी और भी कई स्त्रियों का ज़िक्र करती है जिन्होंने अपनी रचना को अपने पति की रचना में घुल-मिल जाने दिया। इसकी परिणति स्त्री संबंधी इतिहास-लेखन के लिए अच्छी नहीं कही जा सकती। ऊपर जिन स्रोतों का ज़िक्र किया गया है, उनमें शामिल की गई अधिकांश लेखिकाएँ किसी न किसी रियासत की महारानी या किसी बड़े लेखक, पत्रकार या अधिकारी की पत्नी या बेटी थीं। इन संग्रहों में लेखिकाओं के विषय में कम सूचना मिलती है और उनके परिवार के बारे

में अधिक। कविताओं का संग्रह भी अधिकांश उन हिस्सों को चुन कर किया गया है, जहाँ ये लेखिकाएँ 'पातिव्रत' की बात करती हों, अपने पति या पिता की वंशावली गिनाती हों या भजन कर रही हों। ध्यान देने की बात है कि इन भजनों के बीच से कहीं-कहीं उनका व्यक्तिगत जीवन और उनकी यौनिकता भी मुखरित हो जाती थी, लेकिन यह सब कुछ भक्ति के उसी आवरण में इन संग्रहों का हिस्सा बन सका, 'रहस्य' के रूप में जिसका ज़िक्र बार-बार स्त्री कवयित्रियों के संदर्भ में किया जाता है।

कवयित्रियों पर विचार करने वाले आलोचक उन्हें कई आधारों पर ख़ारिज कर दिया करते थे। कभी उनकी कविता में शास्त्रीय नियमों और रीतियों का अभाव इसका कारण होता था तो कभी इनकी कविताएँ इस आधार पर ख़ारिज कर दी जाती थीं कि वे उन विषयों पर क्यों लिख रही हैं जिनका संबंध 'पुरुष साहित्य' से है। उन्हें 'स्त्री उपयोगी' या 'ललना साहित्य' के दायरे में रहकर ही लेखन करना चाहिए। इस संबंध में स्त्री कवयित्रियों की रचनाओं पर विचार करने वाले आलोचक रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' की यह टिप्पणी ध्यान देने योग्य है :

> *स्त्री-साहित्य जो भी हमारे सामने इस समय उपस्थित है, उसी शैली से हमें रचा हुआ मिलता है जिस शैली से हमारा पुरुष-साहित्य रचा हुआ प्राप्त होता है। स्त्रियों ने प्रायः पुरुष कवियों की ही सभी प्रधान शैलियों और विषयों का अनुकरण किया है और उन्हीं के समान साधारण तथा व्यापक साहित्य की रचना की है। यदि पुरुषों ने कृष्ण और राम—काव्य लिखा है तो स्त्रियों के भी एक विशाल दल ने साधारण रूप से ऐसा ही काव्य लिखा है। ...केवल कुछ ही ऐसी स्त्रियाँ हुई हैं जिन्होंने अपनी समाज को सम्मुख रख कर स्त्रियोचित साहित्य की रचना करने का विचार करते हुए अपनी समाज के उपयुक्त विषयों पर लिखा है। खेद है कि इन देवियों का अनुकरण करके हमारी दूसरी बहनों ने स्त्री साहित्य के स्वतंत्र रूप का निर्माण करना न जाने क्यों अच्छा नहीं समझा और उसे दूर ही रख दिया। हमारी समझ से यदि हमारी बहनें इस ओर ध्यान दें और अपनी समाज के लिए स्वतंत्र तथा पृथक साहित्य का निर्माण करने का प्रयत्न करें तो बहुत अच्छा हो और थोड़े ही दिनों में स्त्री साहित्य का सुंदर प्रसाद बनकर तैयार हो जाए। इस काल में कतिपय सुयोग्य लेखकों ने बाल-साहित्य के निर्माण का कार्य सुचारु रूप से सफलता के साथ आरंभ कर दिया है। इसी प्रकार हमारी देवियों को बालिका और ललना साहित्य के निर्माण का कार्य करना चाहिए।*[40]

स्त्रियों के साहित्य के संबंध में 'स्वतंत्र' होने का आशय यहाँ वैचारिक स्वतंत्रता नहीं थी। यह साहित्य—जिसे आलोचक ने 'पुरुष-साहित्य' कहा उसकी विधाओं और विषयों से स्वतंत्रता थी। इसे और अधिक स्पष्ट करते हुए उन्होंने आगे लिखा :

> *"यह दूसरी बात है कि राव-राजाओं तथा कुछ धनी-मानी श्रेष्ठ जनों के यहाँ स्त्री शिक्षा का कुछ संचार या प्रचार रहा हो। साधारण रूप से स्त्री समाज में शिक्षा का प्रचार न था। ऐसी दशा में यह आशा कदापि नहीं की जा सकती कि स्त्रियाँ काव्य-शास्त्र तथा छंद-शास्त्र का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त करके साहित्यिक परंपरा से पूर्ण परिचित होते हुए भी काव्य की रचना करने में समता और सफलता प्राप्त कर सकतीं। हाँ, वे स्त्रियाँ अवश्य अपवाद रूप में आ सकती हैं जिन्हें या तो यथोचित साहित्य की शिक्षा दी गई थी या जो सहित्यज्ञों अथवा सुयोग्य कवियों के संपर्क का सौभाग्य प्राप्त कर सकती थीं। वस्तुतः प्रायः जितनी स्त्रियों ने इस काल में काव्य-रचना की है वे बड़े घरों की ऐसी ही स्त्रियाँ थीं जिन्हें शिक्षा और सत्संग दोनों या दोनों में से किसी एक की प्राप्ति का सौभाग्य मिला था। उनमें भी बहुत ही कम ऐसी स्त्रियाँ हैं जिन्होंने छंद-शास्त्र की नियम-नियंत्रित छंदों में रचनाएँ की हों। प्रायः स्त्रियों ने पद-शैली में ही अपना काव्य लिखा है। क्योंकि प्रथम तो कृष्ण-काव्य की यही शैली मुख्य और विशेष प्रचलित ठहरती है और दूसरे इसकी रचना छन्द-रचना के समान श्रम-साध्य तथा कठिन नहीं है। जिन थोड़ी-सी स्त्रियों ने छंदात्मक काव्य लिखा है उनमें भी यह बात देखी जाती है कि उन्होंने भी केवल वे ही छंद लिये हैं जिनकी रचना सरल, साधारण और स्पष्ट है। इतना होते हुए भी स्त्रियों ने इस बात का सफल प्रयत्न किया है कि वे उन सब प्रधान शैलियों में रचनाएँ करें जो उस समय के साहित्य-क्षेत्र में महाकवियों के द्वारा प्रचलित की जाकर उपस्थित थी।"*[41]

'स्त्रियोपयोगी' विषयों और 'ललना साहित्य' का आग्रह स्त्रियों की रचनाशीलता से जुड़े उस पूर्वग्रह के साथ घुल-मिल गया जिसमें स्त्रियों को 'पुरुष साहित्य' की नकल करने वाले और साहित्यिक क्षेत्र में एक अवांछित अतिक्रमणकारी के रूप में देखा जा रहा था। शुक्ल जी ने अपने इतिहास में किसी स्त्री कवि को जगह नहीं दी। बंगमहिला और महादेवी को छोड़कर। स्त्रियोचित और स्त्रियोपयोगी के

इस आग्रह ने केवल स्त्रियों को ही साहित्येतिहास से बाहर नहीं किया। इसने ऐसी परिस्थिति पैदा कर दी कि केवल उन्हीं स्त्रियों और उनके भी उन्हीं पदों का संग्रह किया गया जिनसे उनका 'स्त्रियोपयोगी' होना सिद्ध होता था। ऐसे में पातिव्रत की शिक्षा का समर्थन करने वाले पद तो इन संग्रहों में शामिल किए गए लेकिन स्त्री शिक्षा को पातिव्रत के दायरे से बाहर करने वाली हरदेवी जैसी स्त्रियों को इन संग्रहों से दूर ही रखा गया। हरदेवी द्वारा पातिव्रत के मज़ाक़ उड़ाने वाले साहित्य को दस्तावेज के रूप में सुरक्षित रखने की तो कल्पना भी नहीं की जा सकती। पितृसत्तात्मक शोषण पर रोती, आँसू बहाती कवयित्रियों को तो सहानुभूति के साथ जगह दे भी दी जाती थी लेकिन पातिव्रत्य जैसी सीख को नकार देने वाली स्त्रियों के लिए इन किताबों में कोई जगह नहीं थी। हो भी कैसे जब साहित्येतिहासकार शुक्ल जी खुद पर्दे के पीछे बैठकर बात करने वाली बंगमहिला की प्रशंसा करते नहीं थक रहे थे और जिन्होंने महादेवी वर्मा जैसी कवयित्री—जिन्हें उपेक्षित करना सम्भव नहीं था—की प्रेम कविताओं को रहस्य का आवरण ओढ़ा दिया। यही 'स्त्रियोचित' था और सम्भवत: एक भद्र आलोचक के लिए यही 'शालीनता भी' थी।

उपसंहार : एक प्रतिस्पर्धी लोकवृत्त के रूप में उन्नीसवीं सदी की लेखिकाएँ

प्रतापकुँवरि, विरंजी कुंवरी, रतनकुँवरि बीबी, प्रतापबाला, विष्णुकुँवरी, रत्नकुँवरी बाई, चंद्रकला, जुगलप्रिया, रामप्रिया, गिरिराजकुँवरी, रघुवंशकुमारी, राजरनी देवी, हेमंतकुमारी देवी चौधरी, सरस्वती देवी, रमादेवी, मल्लिका, वृषभानु कुँवरी, हरदेवी, रूपकुमारी चंदेल, बुंदेल बाला, कमलाबाई किबे, सुभद्रा देवी, भाग्यवती देवी तथा बंगमहिला आदि प्रमुख हिंदी लेखिकाएँ हैं—जो उन्नीसवीं सदी के दौरान सक्रिय दिखती हैं। यहाँ इनमें से कुछ ही लेखिकाओं पर विचार किया जा सका है। जिन संग्रहों में इन लेखिकाओं के पदों को संगृहीत किया गया है, वहाँ इन लेखिकाओं द्वारा रची गई पुस्तकों के नाम तथा कुछेक रचनाओं के साथ इनके सार्वजनिक जीवन के बारे में भी थोड़ी-बहुत जानकारी मिल जाती है।[42] इन सूचनाओं के आधार पर यदि प्रत्येक लेखिका की रचनाओं को खोजा जाए और उनके जीवन के दूसरे पहलुओं पर विचार किया जाए तो उन्नीसवीं सदी की हिंदी की दुनिया उससे कुछ जुदा नज़र आएगी जिसे हम अभी तक जानते हैं। हर लेखिका ने क़रीब दस से अधिक पुस्तकों की रचना की। सभी का जीवन-संघर्ष और सामाजिक परिवेश उन्नीसवीं सदी के हिंदी लोकवृत्त की एक अलग ही कहानी कहता है। इनमें से कई रानी-महारानी या जमींदार घरों से थीं, कई किसी मास्टर या सम्पादक के परिवार से, कुछ चिकित्सक थीं, कुछ शिक्षिकाएँ तो कुछ केवल गृहिणियाँ। किसी को समस्यापूर्ति में महारत हासिल थी। कोई *रसिक मित्र* जैसी शृंगारिक साहित्य की पत्रिकाओं की नियमित लेखिका। यह सभी सूचनाएँ निर्मल जी, मुंशी देवी प्रसाद और सावित्री सिन्हा की किताबों में सूत्र रूप में मौजूद हैं। लेकिन इन सूचनाओं के चयन और व्याख्या में इन लेखकों की अपनी दृष्टि ने इतिहासलेखन के कार्य को और भी चुनौतीपूर्ण बना दिया है। मसलन, अगर चंद्रकला और बलदेव के प्रेम-प्रसंग को छिपाने की इतनी अधिक कोशिश निर्मल जी ने न की होती तो चंद्रकला का साहित्य और जीवन उन्नीसवीं सदी के प्रति जिज्ञासा रखने वाले पाठक के लिए अधिक खुल कर सामने आता।

ऐसे में उन्नीसवीं सदी की हर लेखिका अपने आप में एक विस्तृत अध्ययन का विषय है। इन स्त्रियों का जीवन उन्नीसवीं सदी में स्त्री की सार्वजनिक मौजूदगी के अलग-अलग आयामों को दर्शाता है। हरदेवी पितृसत्ता को सीधी चुनौती देने वाली लेखिका के रूप में दिखती हैं। हेमंतकुमारी आदि उन्नीसवीं सदी की उस समाजसुधारक स्त्री का प्रतिनिधित्व कर रही हैं जिसे एक अच्छी शिक्षा मिली और जिसने रूढ़िवादी पितृसत्ता पर सवाल भी उठाए लेकिन फिर भी उन्होंने सुधारवादी पितृसत्ता की शर्तों का सार्वजनिक मंचों से समर्थन किया और कभी-कभार स्त्री की सैद्धांतिक अधीनता को स्वीकार भी कर लिया। चंद्रकला उस रीतिकालीन कवयित्री की उन्नीसवीं सदी-उत्तरार्ध में निरन्तरता को प्रतिबिम्बित करती है जिसे स्त्री यौनिकता के बदल रहे विक्टोरियन असर वाले नियम-क़ायदों की कोई परवाह नहीं थी। वह समाज सुधारक नहीं थी लेकिन अपने जीवन और लेखन में वह इन आधुनिक सुधारवादी स्त्रियों से अधिक मुक्त थी।

उन्नीसवीं सदी की इन स्त्री लेखिकाओं का होना ही अब तक हुए इतिहासलेखन पर प्रश्नचिह्न लगाने के लिए काफ़ी है। यह सच है कि भक्ति या शृंगारिक कविता लिखने वाली बहुत-सी कवयित्रियों ने '*स्त्री शिक्षा*' की उसी पातिव्रत

धर्म आधारित अवधारणा को स्वीकार किया लेकिन बहुत-सी लेखिकाएँ इन विषयों पर सीधी बहस का निमंत्रण देती भी दिखती हैं। क्या *सीमन्तनी उपदेश* या 'स्त्रियों पर सामाजिक अन्याय' और अग्रवाल स्त्री द्वारा लिखित *मर्द औरत का क़िस्सा* जैसी किताबों में स्त्रियों द्वारा उठाए गए प्रश्नों का जवाब हिंदी के लेखकों ने देने की कोशिश की? क्या वे इन स्त्रियों के लेखन तथा उनके द्वारा उठाए जा रहे सवालों को ध्यान देने लायक़ भी समझते थे? *भारत भगिनी* पत्रिका जो दो दशकों तक निकाली गई, जिसका सर्कुलेशन लड़कियों के स्कूलों से लेकर आर्यसमाज के कार्यालयों तक सभी जगह हुआ करता था, उसके एक भी लेख, किसी भी अंक का उल्लेख हिंदी साहित्य के इतिहास में नहीं किया जा सकता था? ऐसे तमाम सवाल हैं जिनका सामना अब उन्नीसवीं सदी के हर अध्येता को करना ही होगा। आ

संदर्भ

1. ठाकुर, द्वारका कुँवर, स्त्रियों में पर्दा शिक्षा और भोजन संबंधी प्रश्नोत्तर, मुज़फ़्फ़रपुर, 1907
2. देखें, 'अज्ञात' हिंदू स्त्री कैसे बनती है?, *आलोचना*, अप्रैल-जून 2016, पृ. 30
3. सिन्हा, सच्चिदानंद, द *कायस्थ समाचार*, अप्रैल, 1902, पृ. 436-437
4. युगलकिशोर, *विधवा बाल विलाप*, भागलपुर, बिहार एंजेल प्रेस, 1897, भूमिका।
5. *रस्साकशी*, पृ. 33-36
6. उपरोक्त
7. उपरोक्त
8. उपरोक्त
9. देखें, हरदेवी (संपादिका), *भारत भगिनी*, 1902 के अंक।
10. *भारत भगिनी*, जनवरी 1902
11. श्रीवास्तव गरिमा, 'नवजागरण, स्त्री प्रश्न...', *प्रतिमान*, 2014
12. रामविलास शर्मा और दूसरे बहुत से आलोचकों ने भारतेन्दु हरिश्चंद्र को स्त्री-मुक्ति का चैम्पियन घोषित किया है। जबकि *रस्साकशी* जैसे शोध स्पष्ट रूप से दिखलाते हैं कि भारतेन्दु हिंदी लोकवृत्त की रूढ़िवादी पितृसत्ता के प्रतिनिधि थे। यह बात इस शोध में भी अनेक प्रसंगों में रेखांकित की गई है। देखें, *भारतेन्दु युग और हिंदी नवजागरण*।
13. श्रीवास्तव, गरिमा 'नवजागरण, स्त्री-प्रश्न और आचरण-पुस्तकें', *प्रतिमान*, 2014
14. देखें, सिंह, चारु, "'अज्ञात' हिंदू स्त्री कैसे बनती है?", *आलोचना*, अप्रैल-जून, 2016 के सन्दर्भ। इन संदर्भों में अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर हरदेवी को लेकर होने वाली चर्चाओं का ब्योरा दिया गया है।
15. Johnston, Rev. J. Abstract and analysis of the report of the Indian Education Commission, London, 1884; Hunter, W.W. (President of the commission). *Report of the Indian Education Commission*, Calcutta. 1883-84; *Report of the National Committee on Women's Education*, 1959.
16. Rowbotham,Sheila. 'Woman's consciousness', *Man's world*, Penguin,1973; Rowbotham,Sheila. Women,Resistance and Revolution. 1972; Welter, Barbara. "The cult of true womanhood 1820-1860". *American Quaterly* 18, no. 2, 1966 pp.151-157; Lerner,Gerda. "The Lady and the Mill girl", midcontinent *American journal*, 1969.
17. Fraser, Nancy. "Rethinking the Public Sphere : A Contribution to the Critique of Actually Existing Democracy." *Social Text*, No. 25/26, Duke University press (1990), pp. 56-80; Benhabib, Seyla. "Models of Public Space: Hannah Arendt, the Liberal Tradition and J. rgen Habermas". in *Situating the Self: Gender, Community and Postmodernism in Contemporary Ethics*. Polity Press, Cambridge, 1992. pp. 89-120.
18. Welter, Barbara. "The cult of true womanhood 1820-1860". *American Quaterly* 18, no. 2, 1966 pp.151-157
19. Lerner, Gerda. Placing women in history, *Feminist Studies*, vol 3, no 1/2, Autumn, 1975, PP 5-14
20. उपरोक्त
21. उपरोक्त
22. विस्तृत विवेचन के लिए देखें, दिल्ली विश्वविद्यालय में पीएचडी की उपाधि हेतु प्रस्तुत अप्रकाशित शोध प्रबंध, चारु सिंह, "उन्नीसवीं सदी के हिंदी लोकवृत्त में स्त्री शिक्षा की अवधारणा" का अध्याय-3।
23. उपरोक्त
24. स्त्री-कवि-कौमुदी, पृ. 134

25. स्त्री-कवि-कौमुदी, पृ. 135
26. स्त्री कवि कौमुदी, पृ. 134
27. स्त्री कवि कौमुदी, पृ. 137
28. Gupta, Charu, *Sexuality, obscenity, community.*
29. *हिंदी साहित्य का ओझल नारी इतिहास,* पृ. 50-51
30. ढूँढकहितशिक्षा, जैन धर्म प्रसारक सभा, भावनगर
31. उपरोक्त, पृ. 1
32. उपरोक्त, पृ. 2
33. माइक्रोफ़ोन
34. उस समय का प्रसिद्ध *अवध* पंच अख़बार।
35. शुक्ल, रामचंद्र, *हिंदी साहित्य का इतिहास,* लोकभारती, पृ. 365
36. निर्मल, ज्योति प्रसाद मिश्र, *स्त्री कौमुदी,* भूमिका।
37. निर्मल, 183
38. निर्मल, पृ. 202
39. माधव, नीरजा, *हिंदी साहित्य का ओझल नारी इतिहास,* पृ. 50-51 में उद्धृत मल्लिका : भारतेन्दु की धर्मगृहीता', नागरी प्रचारिणी पत्रिका, संवत् 2058 अंक एक, वाराणसी
40. रसाल, राम शंकर शुक्ल, 'हिंदी में स्त्रियों का काव्य साहित्य—ऐतिहासिक विकास', निर्मल, पृष्ठ 312-313
41. उपरोक्त
42. निर्मल, मुंशी देवी प्रसाद